भेदविज्ञानसार

समयसार गाथा ३९० से ४०४ पर
परम पूज्य श्री कानजीस्वामीके प्रवचन

: प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ-३६४२५० (जि. भावनगर)

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ-३६४२५०

भगवानश्रीकुन्दकुन्द-कहानजैनशास्त्रमाला, पुष्प–५४

ॐ

भेदविज्ञानसार

समयसार गाथा ३९० से ४०४ पर
परम पूज्य श्री कानजीस्वामीके प्रवचन

卐

: अनुवादक :
मगनलाल जैन

卐

: प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ-३६४२५० (जि. भावनगर)

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

अब तक छपी हुईं प्रतियाँ : ३७०००

चतुर्थ आवृत्ति प्रत : ७०० वीर नि. सं. २५४४ ई. स. २०१८

भेदविज्ञानसार (हिन्दी)के

स्थायी प्रकाशन पुरस्कर्ता

श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल

जलगाँव (महाराष्ट्र)

मूल्य : रु. २०/–

मुद्रक

स्मृति ओफसेट

सोनगढ (सौराष्ट्र)

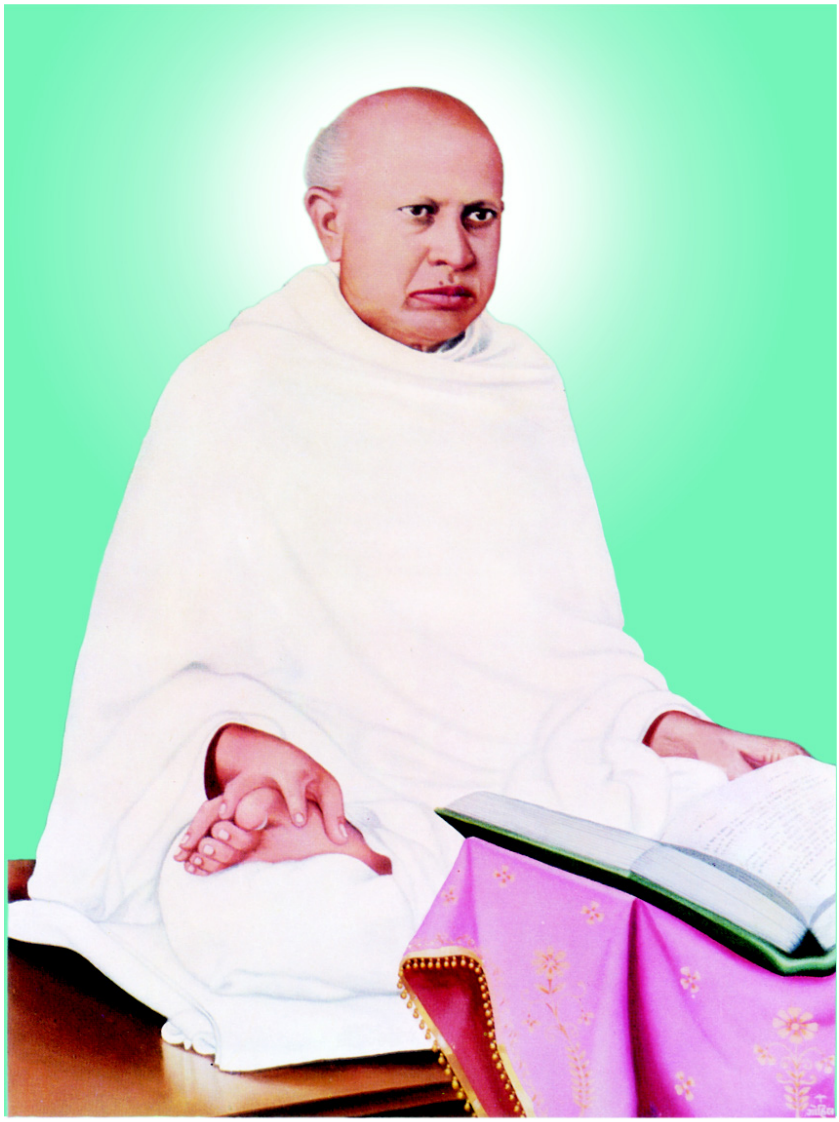

પરમ પૂજ્ય અધ્યાત્મમૂર્તિ સદ્‌ગુરુદેવ શ્રી કાનજીસ્વામી

प्रस्तावना

यह 'भेदविज्ञानसार' पुस्तक अपने नामके अनुसार वास्तवमें भेदविज्ञानका उपाय बतलाती है। भेदविज्ञानका अपरंपार माहात्म्य है और वह अपूर्व है। अनंतकालसे संसारमें परिभ्रमण करते हुए जीवने शास्त्रज्ञान–व्रत-तप-त्याग आदि सब कुछ किया है, किन्तु भेदविज्ञान कभी एक क्षणमात्र नहीं किया। पूज्य श्री कानजीस्वामी कहते हैं कि–यदि जीव एक समयमात्र भी स्व-परका भेदविज्ञान करे तो उसकी मुक्ति हुए बिना न रहे। एक क्षणमात्रका भेदविज्ञान अनंत जन्म-मरणका नाश करता है।

परम पूज्य श्री कानजीस्वामी अपनी अपूर्व वाणी और परमश्रुत द्वारा जगतके जीवोंको भेदविज्ञानका स्वरूप निरंतर दर्शा रहे हैं। उनके उपदेशकी अमृतधारा धार्मिक उत्सवके प्रसंग पर तो एक महान प्रवाहका रूप धारण करती है। महान प्रवाहरूपसे बहती हुई यह अमृतवाणी श्रोताजनोंकी महान अज्ञानरूपी शिलाओंको भी चूरचूर कर देती है। वीर सं. २४७४के धार्मिक उत्सवके समय पूज्य कानजीस्वामीकी वाणीका जो महान प्रवाह बहा था उसमेंसे यह एक छोटा-सा प्रवाह भर लिया गया है। जो जीव इसका पान करेंगे उसकी आत्मतृषा अवश्य शांत होगी।

इस भेदविज्ञानसारमें आये हुए प्रवचन श्री समयसारजी गाथा ३९० से ४०४ पर के हैं। सूक्ष्म ज्ञानके अभावसे प्राथमिक अभ्यासीको ऐसा लगता है कि व्याख्यानमें एककी एक बात आती है। इसलिये प्रवचनमें जहाँ-जहाँ न्यायोंकी शैलीमें परिवर्तन होता है उस जगह नये नये हेडिंग दिये गये हैं; इससे पाठकोंको सरलता होगी। इन व्याख्यानोंमें अनेक प्रकारके विधविध न्याय भरे होने पर भी उनके मूलभूत विषयकी धारा प्रारंभसे अन्त तक एकसी चलती रही है। सर्व परद्रव्यों और परभावोंसे आत्माका भिन्नत्व और अपने ज्ञानस्वभावसे एकत्व समझकर अपूर्व भेदविज्ञान प्रगट करना वह पूज्य स्वामीजीके सर्व प्रवचनोंका तात्पर्य है।

भेदविज्ञान प्रगट करनेकी तैयारीवाले जीवको देशनालब्धि अवश्य होती है। सत्समागमके बिना मात्र शास्त्राभ्याससे वह देशनालब्धि नहीं हो सकती।

किसी आत्मानुभवी पुरुषके पाससे धर्मदेशनाका साक्षात् श्रवण किये बिना कोई भी जीव शास्त्र पढ़कर भेदविज्ञान प्रगट नहीं कर सकता; इसलिये जिन आत्मार्थीयोंको अति महिमावंत भेदविज्ञान प्रगट करके इन संसार-दुःखोंसे परिमुक्त होना हो उन्हें सत्समागमसे उपदेश श्रवण करके तत्त्वका निर्णय करना चाहिये। भेदविज्ञान ही इस जगतमें सारभूत है। भेदविज्ञानसे रहित जो कुछ भी है वह असार है। इसलिये आत्मार्थियोंको प्रतिक्षण इस भेदविज्ञानकी भावना करने योग्य है।

वीर संवत् २४७५ (ई.स. १९४९)
अषाढ़ शुक्ला-२
सोनगढ़

रामजी माणेकचंद दोशी
—प्रमुख—
श्री जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

प्रकाशकीय निवेदन

(चतुर्थ आवृत्ति)

इस पुस्तकमें श्री समयसारकी गाथा ३७० से ४०४ पर भेदविज्ञान पर बहुत सुंदर विवेचन किया है।

भेदविज्ञानसारका यह हिन्दी संस्करण बहुत समयसे अप्राप्य होनेसे और हिन्दीभाषी मुमुक्षुओंकी बहुत मांग होनेसे यह शास्त्र मुद्रित किया जा रहा है।

इस पुस्तकके मुद्रणके लिये स्मृति ऑफसेट, सोनगढके आभारी हैं।

इस भेदविज्ञानसार पुस्तकमें श्रुतलब्धिवंत परम पूज्य गुरुदेवश्रीने अत्यंत भाववाही प्रवचन किये थे उसका संकलन है। मुमुक्षु जीव इसका रसपान करके भेदज्ञान द्वारा स्वपरप्रकाशक ऐसे स्वयंके ज्ञानस्वभावी आत्माको पहिचानकर अपने आत्महितकी साधना करें यही भावना सह....

पूज्य बहिनश्रीकी
८६वीं सम्यक्त्व जयंती
सोनगढ (सौराष्ट्र)
ता. ११-३-२०१८

साहित्यप्रकाशनसमिति
श्री दिगम्बर जैन
स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ (सौराष्ट्र)

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ
१	द्रव्यश्रुत और ज्ञानका भेदविज्ञान	१
२	शब्द और ज्ञानका भेदविज्ञान	२८
३	रूप और ज्ञानका भेदविज्ञान	३७
४	ज्ञानस्वभावमें एकता और परसे भिन्नता सो धर्म	५२
५	वर्ण (रंग) और ज्ञानका भेदविज्ञान	५७
६	गंध और ज्ञानका भेदविज्ञान	६५
७	रस और ज्ञानका भेदविज्ञान	७३
८	सुख और धर्मका साधन भेदविज्ञान	७६
९	स्पर्श और ज्ञानका भेदविज्ञान	७९
१०	मोक्षका कारण सम्यक्मति–श्रुतज्ञान कैसे प्रगट हो ?	९५
११	कर्म और ज्ञानका भेदविज्ञान	१०६
१२	धर्मद्रव्य और ज्ञानका भेदविज्ञान	११४
१३	अधर्मद्रव्य और ज्ञानका भेदविज्ञान	११६
१४	कालद्रव्य और ज्ञानका भेदविज्ञान	११६
१५	गुजराती प्रवचनसार परमागम–प्रकाशन	१२०
१६	आकाश और ज्ञानका भेदविज्ञान	१२६
१७	अध्यवसान (राग-द्वेष) और ज्ञानका भेदविज्ञान	१४२
१८	भेदविज्ञानके लिये प्रेरणा	१५५
१९	जीवके साथ ज्ञानकी एकता	१५८
२०	धर्मी-अधर्मीका माप करनेकी रीत	१६५
२१	ज्ञानस्वभावमें निःशंक होनेका उपदेश	१७५
२२	जीवकी पर्यायोंके साथ भी ज्ञानकी एकता	१९२
२३	जहाँ रुचि वहाँ निःशंकता	२०१
२४	ज्ञानस्वभावके अनुभवका उपदेश	२०५
२५	गाथा ३९० से ४०४ तकका भावार्थ	२१५
२६	परसे भिन्न शुद्धज्ञानके अनुभवका काव्य	२१७

❀ श्री समयसारजी–स्तुति ❀

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टाळवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर ! तें संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी.

(अनुष्टुप)

कुंदकुंद रच्युं शास्त्र, साथिया अमृते पूर्या,
ग्रंथाधिराज ! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या.

(शिखरिणी)

अहो ! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी उतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोडे परिणति.

(शार्दूलविक्रीडित)

तुं छे निश्चयग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,
तुं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा;
साथी साधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुक्ति तणो.

(वसंततिलका)

सुण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय;
तुं रुचतां जगतनी रुचि आळसे सौ,
तुं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे.

(अनुष्टुप)

बनावुं पत्र कुंदननां, रत्नोना अक्षरो लखी;
तथापि कुंदसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी.

ॐ

भेदविज्ञानसार

(समयसार गाथा ३९० से ४०४ पर परम पूज्य कानजीस्वामीके प्रवचन)

[१]

(वीर सं. २४७४ भाद्रपद कृष्णा ११, सोमवार)

(१) ज्ञानस्वभावके स्वतंत्रताकी घोषणा

इन पंद्रह गाथाओंमें ज्ञानकी समय-समयकी स्वतंत्रताकी घोषणा है। आत्माका ज्ञान सर्वतंत्र-स्वतंत्र है, इससे उस पर किसीकी सत्ता नहीं है और उसे किसी अन्यकी सहायताकी आवश्यक्ता नहीं है। आत्माका परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव समस्त पर पदार्थोंसे बिल्कुल पृथक् है। आत्माका ज्ञान आत्मामें है–अन्यमें नहीं है।

आत्मा स्वयं ज्ञान है। आत्मामें परिपूर्ण ज्ञान है और परमें किंचित् भी ज्ञान नहीं है; इससे ज्ञान आत्मासे ही होता है और परसे नहीं होता–ऐसे अनेकान्त स्वभावका वर्णन करके श्री आचार्यदेवने इन गाथाओंमें ज्ञानस्वभावके स्वातंत्र्यकी घोषणा की है। शास्त्र इत्यादि परद्रव्य ज्ञान नहीं हैं, इसलिये वे ज्ञानका किंचित्मात्र कारण नहीं हैं। आत्मा स्वयं ज्ञान है इससे वही ज्ञानका कारण है।

(२) आचार्य भगवानके कथनका जोर

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवके मूल सूत्रोंमें तीन स्थानों पर मुख्य जोर दिया गया है—(१) 'सत्थं ण याणए किंचि' अर्थात् शास्त्रादि कुछ नहीं जानते हैं–यानी उनमें पूरी अचेतनता बतलाई है। (२) 'अण्णं णाणं' अर्थात् उन अचेतन शास्त्रादिसे ज्ञान पृथक् है। शास्त्र इत्यादि कुछ नहीं जानते उस (कथन)के प्रति आत्मामें परिपूर्ण ज्ञान है–ऐसा सिद्ध हुआ। आत्मामें परिपूर्ण ज्ञान है और श्रुतादिमें ज्ञान किंचित्मात्र नहीं है–इसप्रकार अस्ति-नास्तिसे पूर्ण ज्ञानस्वभाव बताया है। और (३) 'जिणा बिंति' अर्थात् जिनदेव ऐसा जानते हैं या जिनदेव ऐसा कहते हैं। प्रत्येक गाथामें 'जिणा बिंति' कहकर सर्वज्ञभगवानकी साक्षी दी है।

अहो ! किसी अपूर्व योगमें इस समयसार शास्त्रकी रचना हुई है। प्रत्येक गाथामें अचिंत्य भाव भरे हैं; प्रत्येक गाथा परिपूर्ण आत्मस्वभाव बतला रही है।

(३) ज्ञानको परका किंचित् भी अवलम्बन नहीं है

आत्मा स्वयं ज्ञान है और श्रुत-शास्त्रादि अचेतन हैं; आत्मामें ज्ञान परिपूर्ण है और श्रुतादिमें किंचित् ज्ञान नहीं है। श्रुतमें ज्ञान नहीं है और ज्ञानमें श्रुत नहीं है; तब फिर भाई ! तेरे ज्ञानमें श्रुत तुझे क्या सहायता देगा ? और तेरा आत्मा ज्ञानसे परिपूर्ण है तब फिर तेरा ज्ञान परकी क्या आशा रखेगा ? इसलिये ज्ञानको परका बिलकुल अवलम्बन नहीं है, अपने आत्मस्वभावका ही अवलम्बन है।

इसप्रकार आचार्यभगवान इन पन्द्रह गाथाओंमें आत्माका परिपूर्ण स्वाश्रित ज्ञानस्वभाव बतलाते हैं।

[२]

(वीर सं. २४७४ भाद्रपद कृष्णा १२ मंगलवार)

(४) अपने आत्माका हित करना हो उसे परसे भिन्न आत्माको जानना चाहिये!

जिसे अपने आत्माका हित करना है–कल्याण करना है उसे क्या करना चाहिये? उसका यह अधिकार चल रहा है। प्रथम तो, आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान-आनन्द ही उसका स्वभाव है और परसे तथा विकारसे वह पृथक् है–ऐसे आत्माकी जबतक श्रद्धा न हो तबतक शरीर-पैसा-स्त्री-पुत्रादिमेंसे हितबुद्धि दूर नहीं होगी, और जबतक परमें हितबुद्धि या लाभ-अलाभकी बुद्धि दूर नहीं होगी तबतक स्वभावको पहिचानने तथा राग-द्वेषको दूर करके उसमें स्थिर होनेका सत्य पुरुषार्थ नहीं करेगा। इसलिये अपना हित चाहनेवाले जीवोंको यह जानना चाहिये कि आत्माका स्वरूप क्या है? उसकी किसके साथ एकता है और किसके साथ भिन्नता? आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह ज्ञान-सुख आदि सबके साथ एकमेक है, और शरीर-पैसा इत्यादि उससे पृथक्त्व है; रागसे भी वास्तवमें उसे पृथक्त्व है। ज्ञान-आनन्दस्वरूप यह आत्मा परसे भिन्न है–ऐसा कहनेसे ही आत्मा अपने स्वभावसे परिपूर्ण, स्वाधीन और परके आश्रयसे रहित, निरावलम्बी सिद्ध होता है। ऐसे आत्माको जानना-मानना ही हितका उपाय है, वही कल्याण है, वही धर्म है, वही मंगल है।

प्रत्येक आत्मा परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप है। यह जो शरीर है सो मैं नहीं हूँ; मैं तो आत्मा हूँ, मेरा आत्मा ज्ञानसे परिपूर्ण है और परवस्तुओंसे भिन्न है, मेरे आत्माको ज्ञान और आनन्दके लिये किसी पर वस्तुकी आवश्यक्ता नहीं है। इसप्रकार अपने ज्ञानानंद-स्वभावी आत्माका

स्वीकार किये बिना कोई जीव धर्म नहीं कर सकता। यह आत्मस्वभाव आबालवृद्ध सबकी समझमें आ सकता है। प्रत्येक जीवको सुखके लिये ऐसा आत्मस्वभाव ही समझना है। यहाँ पर आचार्यदेव उस स्वभावको समझाते हैं।

* द्रव्यश्रुतसे ज्ञानका भिन्नत्व *

श्रुत अर्थात् वचनात्मक द्रव्यश्रुत है वह ज्ञान नहीं है, क्योंकि श्रुत अचेतन है; इसलिये ज्ञानको और श्रुतको व्यतिरेक है–भिन्नत्व है।

(५) द्रव्यश्रुतके लक्षसे आत्माका ज्ञान नहीं होता

आत्मा केवल ज्ञाता-दृष्टा आनन्दस्वभावी है, उसे समझनेमें द्रव्यश्रुत निमित्तरूप है; इससे सर्वप्रथम उस द्रव्यश्रुतसे ज्ञानको भिन्न समझाते हैं। श्री सर्वज्ञ भगवानकी दिव्यवाणी, गुरुओंकी वाणी अथवा सूत्रोंके शब्द–वे सब द्रव्यश्रुत हैं; उनके आधारसे इस आत्माका ज्ञान नहीं होता। साक्षात् सर्वज्ञभगवान, गुरु या शास्त्रके लक्ष्यमें रुकनेसे जो ज्ञान होता है वह भी द्रव्यश्रुत है। देव और गुरुके आत्माका ज्ञान उसमें है, परन्तु इस आत्माका ज्ञान उनमें नहीं है, इससे वास्तवमें इस आत्माकी अपेक्षासे वह अचेतन है। जीव अपने स्वभावकी ओर ढलकर जब सच्चा समझता है तब द्रव्यश्रुतको निमित्त कहा जाता है; परन्तु देव-गुरु-शास्त्रकी रुचिसे आत्मस्वभाव समझमें नहीं आता। देव-गुरुकी वाणीसे और शास्त्रोंसे यह आत्मा पृथक् है। द्रव्यश्रुत तो अचेतन है, उसमें कहीं भी ज्ञान नहीं भरा है, इसलिये द्रव्यश्रुतसे ज्ञान नहीं होता, द्रव्यश्रुतके लक्षसे आत्मा समझमें नहीं आता। आत्मा स्वयं ज्ञानस्वभावी है उस ज्ञानस्वभावके द्वारा ही आत्मा ज्ञात होता है। अपना स्वभाव ही ज्ञाता है–वह सम्यग्ज्ञान है।

(६) वर्तमान ज्ञानको आत्मामें एकाग्र करे तो धर्म हो

द्रव्यश्रुतसे आत्मा भिन्न है, देव-गुरु-शास्त्रसे आत्मा भिन्न है, इससे उनके लक्षसे होनेवाला राग भी द्रव्यश्रुतमें आ जाता है। ऐसा समझकर उस द्रव्यश्रुतकी ओर के लक्षको छोड़कर, वर्तमान ज्ञानको अन्तरमें रागरहित त्रिकाली ज्ञानस्वभावकी ओर उन्मुख करे तो अपना आत्मस्वभाव ज्ञात हो। वर्तमान ज्ञानपर्यायको परकी ओर एकाग्र करे तो अधर्म होता है और अपने त्रिकाली ज्ञानस्वभावकी ओर उन्मुख करके वहाँ एकाग्र करे तो धर्म होता है। ज्ञानस्वभावके आधारसे जो ज्ञान होता है वह सम्यग्ज्ञान है। परद्रव्य इस आत्मासे पृथक् हैं, उनके लक्षसे जो मंदकषाय और ज्ञान हो उस मंदकषाय या ज्ञानके आश्रयसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता और आत्मा समझमें नहीं आता। इतना समझ ले तब द्रव्यश्रुतसे आत्माको पृथक् माना कहा जाये और तभी जीवको धर्म हो।

(७) निमित्त और शुभराग हो परन्तु उससे ज्ञान नहीं होता

'द्रव्यश्रुतसे आत्मा पृथक् है'–ऐसा कहनेसे उसमें सच्चे द्रव्यश्रुतकी स्वीकृति आ जाती है। जिस जीवको आत्मा समझनेकी जिज्ञासा है उसे प्रथम द्रव्यश्रुतकी ओर लक्ष होता है, द्रव्यश्रुतके लक्षसे शुभराग होता अवश्य है, सच्चे देव-गुरु-शास्त्रकी पहिचान, सत्समागम, शास्त्रस्वाध्याय आदि निमित्त भी होते हैं और जिज्ञासुको उसके लक्षसे शुभराग होता है, परन्तु उन किन्हीं भी निमित्तोंके लक्षसे आत्मस्वभाव समझमें नहीं आता। द्रव्यश्रुत आदि निमित्त और उनके लक्षसे होनेवाले रागको छोड़कर उससे रहित त्रिकाली चैतन्यस्वभावकी रुचि न करे और ज्ञानको स्वोन्मुख न करे तो मिथ्याज्ञान दूर नहीं होता। जिज्ञासु जीवको श्रवणकी ओरका शुभराग होता है, परन्तु यदि वह ऐसा मान ले कि श्रवणसे ही ज्ञान होगा, तो वह कभी भी परलक्ष छोड़कर स्वोन्मुख नहीं

होगा और उसका अज्ञान बना रहेगा। श्रवण करनेसे या उस ओरके लक्षसे ज्ञान नहीं होता; ज्ञान तो अपनी योग्यतासे ज्ञानस्वभावके आधारसे होता है—ऐसा समझकर पुरुषार्थ द्वारा अपने वर्तमान ज्ञानको त्रिकाली स्वभावकी ओर उन्मुख करे तो अपूर्व भेदज्ञान प्रगट हो।

(८) तीर्थंकरोंकी दिव्यध्वनिके आश्रयसे ज्ञान नहीं होता!

तीर्थंकर होनेवाला जीव आत्मस्वभावके यथार्थ ज्ञान और अवधिज्ञान सहित जन्म लेता है और पश्चात् मुनिदशा प्रगट करके उग्र पुरुषार्थपूर्वक आत्मस्वभावमें स्थिरता करके वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट करता है। ऐसा परिपूर्ण केवलज्ञान प्रत्येक जीवका स्वभाव है। सर्वज्ञदेवको ऐसा केवलज्ञान प्रगट होने पर अपना परिपूर्ण आत्मस्वभाव और जगतके सर्व द्रव्य-गुण-पर्याय एकसाथ प्रत्यक्ष ज्ञात होते हैं। केवलज्ञान होनेके पश्चात् भी तेरहवें गुणस्थानमें योगका कम्पन होता है। तीर्थंकर भगवानको तेरहवें गुणस्थानमें तीर्थंकर नामकर्मका उदय होता है और उसके निमित्तसे 'ॐ'–ऐसी दिव्यध्वनि खिरती है। आत्मस्वभाव समझनेमें निमित्तरूप द्रव्यश्रुत है, उस द्रव्यश्रुतमें सबसे उत्कृष्ट दिव्यध्वनि है; परन्तु उसके आश्रयसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता–ऐसा यहाँ बतलाना है।

(९) दिव्यध्वनि किसके होती है?

जबतक जीवके राग-द्वेषादि होते हैं तबतक उसे पूर्ण ज्ञान नहीं होता और उसकी वाणी भी क्रमवाली, अनेक अक्षरोंवाली और भेदरूप होती है। रागादि दूर होकर वीतरागता होनेसे जो केवलज्ञान हुआ वह परपदार्थोंके एकसाथ जानता है और उसकी वाणी अक्रमरूप, निरक्षरी और एक समयमें पूर्ण रहस्य कहनेवाली होती है, इससे उसे दिव्यध्वनि कहा जाता है।

(१०) ज्ञान की स्वाधीनता और निमित्तका अकिंचित्करपना

श्री सर्वज्ञदेवको पूर्ण ज्ञान हो गया है और उनकी वाणीमें भी प्रत्येक समयमें पूर्ण रहस्य आता है। परन्तु सामनेवाला जीव अपने ज्ञानकी योग्यतासे जितना समझे उतना उसे निमित्त कहलाता है। कोई जीव बारह अंग समझले तो उसे बारह अंगोंके समझनेमें वह वाणी निमित्त कहलाती है और कोई जीव करणानुयोगका ज्ञान करे तो उस समय उसे वह वाणी करणानुयोगके ज्ञानमें निमित्त कहलाती है, और उसी समय दूसरा कोई जीव द्रव्यानुयोगका ज्ञान करता हो तो उसे वह वाणी द्रव्यानुयोगके ज्ञानमें निमित्त कहलाती है। अहो ! इसमें ज्ञानकी स्वाधीनता सिद्ध होती है। जो जीव अपने अन्तरमें स्वभावके आधारसे जितना श्रद्धा-ज्ञानका विकास करे उतना ही दिव्यध्वनिमें निमित्तपनेका आरोप आता है। इसलिये यहाँ भगवान आचार्यदेव कहते हैं कि ज्ञान और द्रव्यश्रुत पृथक् हैं। वाणी और शास्त्र तो अजीव हैं, अजीवके आधारसे कभी ज्ञान नहीं होता। यदि वाणीके श्रवणके कारण ज्ञान होता हो तो अजीव वाणी कर्ता बने और ज्ञान उसका कार्य सिद्ध हो। अजीवका कार्य तो अजीव होता है; इससे ज्ञान स्वयं अजीव सिद्ध हो ! जो जीव परवस्तुके आधारसे अपना ज्ञान मानता है उसका ज्ञान मिथ्या है, उसे यहाँ अचेतन कहा है। श्रुतके शब्द जड़ हैं, आत्माके ज्ञानमें वह अकिंचित्कर है; उस द्रव्यश्रुतके अवलम्बनसे आत्माको किंचित् ज्ञान या धर्म नहीं होता।

(११) आत्मामें अभेद हो वही सच्चा ज्ञान है

शास्त्र और वाणी तो जड़ हैं, वह तो ज्ञान ही नहीं है। लेकिन मंदकषायके कारण मात्र शास्त्रके लक्ष्यसे होनेवाला ज्ञानका विकास भी यथार्थ ज्ञान नहीं है। जिनेन्द्र भगवानके कहे हुये द्रव्य-गुण-पर्याय,

निश्चय-व्यवहार, उपादान-निमित्त, नवतत्त्व इत्यादि सम्बन्धी ज्ञानका विकास मात्र शास्त्रोंके लक्ष्यसे हो और स्वभावका लक्ष्य न करे तो उस ज्ञानके विकासको भी द्रव्यश्रुतमें गिनकर अचेतन कहा है। शास्त्र आदि परद्रव्य उनके लक्ष्यसे होनेवाला मन्दकषाय और उसके लक्ष्यसे कार्य करता हुआ वर्तमान जितना ज्ञानका विकास–उन सबका आश्रय छोड़कर अर्थात् उनके साथकी एकता छोड़कर, त्रिकाली आत्मस्वभावका आश्रय करके आत्मामें जो ज्ञान अभेद हो वही यथार्थ ज्ञान है।

(१२) ऐसा क्यों कहा कि–'संतोंकी वाणी जयवंत हो!

प्रश्न :–यदि वाणीसे–श्रुतसे ज्ञान नहीं होता है, तो फिर यह किसलिये कहा जाता है कि–'संतोंकी वाणी जयवंत प्रवर्तमान रहे ! श्रुत जयवंत हो ?'

उत्तर :–वाणीसे ज्ञान नहीं होता, परन्तु स्वभावके ओरकी एकाग्रतासे ज्ञान प्रगट होता है। सम्यग्ज्ञान होनेके पश्चात् जीव ऐसा जानता है कि पहले वाणीकी ओर लक्ष्य था, अर्थात् सम्यग्ज्ञान होनेमें निमित्तरूप वाणी है। वास्तवमें तो अपने आत्मामें जो भेदज्ञान प्रगट हुआ है वह (भावश्रुत) जयवंत हो–ऐसी भावना है; और शुभ विकल्पके समय भेदज्ञानके निमित्तरूप वाणीमें आरोप करके कहते हैं कि 'श्रुत जयवंत हो, भगवानकी और संतोंकी वाणी जयवंत हो' ! परन्तु उस समय भी अन्तरमें बराबर भान है कि वाणी इत्यादि परद्रव्योंसे या उनकी ओरके लक्ष्यसे मेरे आत्माको किंचित् लाभ नहीं होता।

(१३) वाणीके कारण ज्ञान नहीं होता और न ज्ञानके कारण वाणी

आत्माके ज्ञानमें वाणीका अभाव है और वाणीमें ज्ञानका अभाव

है। यदि वाणीसे ज्ञान होता हो तो वाणी कर्त्ता और ज्ञान उसका कर्म– इसप्रकार एक दूसरेको कर्त्ताकर्मपना हो जाता है। इसलिये वह मान्यता मिथ्या है। और आत्मामें सत्य समझनेरूप योग्यता हो, तब उस योग्यताके कारण वाणी निकलना ही चाहिये—यह मान्यता भी यथार्थ नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा हो तो ज्ञान कर्त्ता और अचेतन वाणी उसका कार्य सिद्ध हो !

(१४) गौतमस्वामी आये इसलिये भगवानकी वाणी खिरी–ऐसा नहीं है और वाणी खिरी इसलिये गौतमस्वामीको ज्ञान हुआ–ऐसा भी नहीं है।

श्री महावीरस्वामीको केवलज्ञान हुआ, इन्द्रोंने समवसरणकी रचना की; लेकिन छियासठ दिन तक भगवानकी दिव्यध्वनि नहीं खिरी। अषाढ़ (गु. श्रावण) कृष्णा एकमके दिन गौतमस्वामी आये और वाणी खिरी। परन्तु वहाँ गौतमस्वामी आये इसलिये वाणी खिरी– ऐसा नहीं है, और वाणी खिरना थी इसलिये गौतमस्वामी आये–ऐसा भी नहीं है। वाणी और गौतमस्वामी–दोनोंकी क्रियाएँ स्वतंत्र हैं।

भगवानकी वाणी खिरी इसलिये गौतमस्वामीको ज्ञान हुआ– ऐसा वास्तवमें नहीं है। वाणी अचेतन है, उससे ज्ञान नहीं होता; और गौतमस्वामी आदि जीवोंके ज्ञानमें समझनेकी योग्यता हुई इसलिये भगवानकी वाणी परिणमित हुई–ऐसा भी नहीं है। अचेतन परमाणुको कहीं ऐसी खबर नहीं है कि सामने पात्र जीव आया है इसलिये मैं परिणमित होऊँ ! और भगवान कहीं वाणीके कर्ता नहीं हैं; वाणी तो वाणीके कारण परिणमित होती है, और जो जीव अपना ज्ञानस्वभाव समझनेके योग्य हो वह जीव अन्तर पुरुषार्थ द्वारा अपने स्वभाव सन्मुख होकर समझता है, उसका ज्ञान अपने ज्ञानस्वभावके आधारसे परिणमित

होता है। अपने स्वभावके सन्मुख होकर जानना-देखना और आनन्दका अनुभव करना वह आत्माका स्वरूप है; पर सन्मुख होकर जाने–ऐसा आत्माका स्वरूप नहीं है।

(१५) केवलज्ञान, कम्पन और वाणी—तीनोंकी स्वतंत्रता

आत्मस्वरूपमें संपूर्ण स्थिर होनेसे महावीर भगवानको केवलज्ञान प्रगट हुआ; घातिकर्मोंका स्वयं—परमाणुकी योग्यतासे नाश हुआ। भगवानके अभी चार अघातिकर्म संयोगरूप थे और आत्मामें योगका कम्पन था, उसके निमित्तसे दिव्यध्वनि खिरती थी; वहाँ केवलज्ञान या कम्पनके कारण वाणी परिणमित नहीं होती थी, क्योंकि तेरहवें गुणस्थानमें केवलज्ञान और कम्पन तो सदैव हैं, इससे यदि उनके कारण वाणी परिणमित होती हो तो वह हमेशा होना चाहिये– लेकिन वाणी तो अमुक समय ही होती है, क्योंकि उसका परिणमन स्वतंत्र है। पुनश्च, दिव्यध्वनि खिरना है, इसलिये भगवानके योगका कम्पन है ऐसा भी नहीं है। कम्पन तो जीवके योगगुणकी अशुद्ध दशा है, और वाणी जड़की दशा है। दोनों अपने अपने कारण स्वतंत्र होते हैं।

भगवानको केवलज्ञान और कम्पन हैं इसलिये वाणी खिरती है ऐसा नहीं है।

वाणी खिरती है इसलिये केवलज्ञान और कम्पन बने हुये हैं ऐसा नहीं है।

कम्पनके कारण केवलज्ञान बना हुआ है ऐसा नहीं है, और केवलज्ञानके कारण कम्पन नहीं है।

केवलज्ञान स्वतंत्र, कम्पन स्वतंत्र और वाणी स्वतंत्र है।

(१६) भगवानकी वाणी और गौतमस्वामीका ज्ञान–दोनों एक ही समयमें हुये, फिर भी वे एक दूसरेके कारण नहीं हैं।

अब, भगवानकी वाणी खिरती है उस वाणीके कारण दूसरे जीवोंको ज्ञान नहीं होता। दूसरे जीवोंको ज्ञान होना है इसलिये वाणी खिरती है–ऐसा भी नहीं है। जब महावीर भगवानकी वाणी खिरी तब परमाणुओंकी योग्यतासे छूटी है और गौतमस्वामीको जो ज्ञान प्रगट हुआ वह उनके आत्माकी योग्यतासे हुआ है। वे दोनों कार्य एक ही कालमें हुये इससे कहीं एक दूसरेके कर्ता नहीं हैं। वाणीरूप पर्यायको पुद्गल परमाणु प्राप्त हो गये हैं, इससे वह पुद्गलका कार्य है। कहीं गौतमप्रभु वाणीपर्यायको प्राप्त नहीं हो गये हैं। उसीप्रकार गौतमस्वामीकी ज्ञानपर्यायमें उनका आत्मा ही प्राप्त हुआ है कहीं वाणी उस ज्ञानमें प्राप्त नहीं हो गई है। इसलिये वाणीके कारण ज्ञान नहीं हुआ और गौतम प्रभुके कारण भगवानकी वाणी नहीं हुई। इस जगतमें अनन्त पदार्थोंके भिन्न-भिन्न कार्य एक साथ एक समय होते हैं; इससे कहीं कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थका कर्ता नहीं है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थका कुछ करे–ऐसा वस्तुस्वभाव ही नहीं है।

(१७) वाणीके आश्रयसे रागकी उत्पत्ति है और स्वभावके आश्रयसे सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति है।

द्रव्यश्रुत अर्थात् भगवानकी वाणी अचेतन है; उसके लक्ष्यसे रागकी उत्पत्ति होती है। वाणीके लक्ष्यसे धर्मकी उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु आस्रवकी उत्पत्ति होती है। वाणीके लक्षसे जो ज्ञान होता है वह आत्माका स्वभाव नहीं है। ज्ञानस्वभावके साथ अभेद होकर जो ज्ञान परिणमित हो वह आत्मस्वभाव है। भगवानकी वाणीके लक्ष्यसे पुण्यभाव होता है, वह भी अचेतन है, वह धर्मका या सम्यग्ज्ञानका कारण नहीं है।

आत्मा स्वयं चेतन है, उसका अवलम्बन छोड़कर यदि अचेतन वाणीके अवलम्बनरूप परिणमित हो तो आस्रवभाव है; उस समय जो शुभभाव होते हैं उनसे चार घातियाकर्म भी बँधते हैं और घातिकर्म पापरूप ही हैं। इसप्रकार द्रव्यश्रुतके लक्षसे पुण्यभावरूप आस्रव होता है। इससे जड़के आश्रयसे जो ज्ञान होता है वह अचेतन है; क्योंकि वह ज्ञान चेतनके विकासको रोकनेवाला है। चेतनरूप ज्ञानस्वभावके आश्रयसे सम्यग्ज्ञान होता है और संवर-निर्जरारूप निर्मलभावकी उत्पत्ति होकर आस्रवका नाश होता है। इसप्रकार जो जीव जानता है वह अपने ज्ञानस्वभावके स्वामित्वरूप ही परिणमित होता है, वह अपनेको अचेतन वस्तुका कर्ता या स्वामी नहीं मानता और अचेतनके आश्रयसे होनेवाले ज्ञान जितना अपनेको नहीं मानता। जो रुपयोंकी तिजोरीमें हाथ डाले उसे रुपये मिलते हैं और जो चिरायतेकी थैलीमें हाथ डाले उसे चिरायता मिलता है–इस दृष्टान्त परसे समझना चाहिये कि—जो अचेतन वाणीकी रुचि और विश्वास करता है उसे अपनी वर्तमानदशामें रागादिकी और अज्ञानकी ही प्राप्ति होती है; और जो ज्ञानादि अनन्त गुणोंके भण्डाररूप अपने स्वभावकी रुचि और विश्वास करता है उसे अपनी पर्यायमें भी सम्यग्ज्ञान और शांतिकी प्राप्ति होती है। इसलिये जिसे अपने आत्मामें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, शांति, सुख आदि प्रगट करना हों उसे कहीं बाह्यमें न देखकर अनन्त गुणस्वरूप अपने आत्मस्वभावमें देखना चाहिये। आत्मस्वभावोन्मुख होनेसे सम्यग्दर्शन, ज्ञानादि प्रगट होते हैं। और उसके बिना वाणी-शास्त्रादि बाह्य वस्तुओंके लक्ष्यसे चिरायते जैसे आस्रव और बंधभाव होते हैं।

(१८) अपूर्व भेदज्ञानके लिये अमृतके इन्जेक्शन

अहा ! आचार्यदेवने ज्ञानस्वभावकी अपूर्व बात कही है। वाणी अचेतन है, उसके आधारसे ज्ञान नहीं होता; ज्ञानस्वभावके आधारसे ही

ज्ञान होता है। अहो ! यह भेदविज्ञानकी परम सत्य बात है, आत्मकल्याणका मार्ग है। परन्तु जिसे अपने कल्याणकी दरकार नहीं है और जगतके आदर-मानकी दरकार है–ऐसे तुच्छबुद्धि जीवोंको यह बात नहीं रुचती अर्थात् वास्तवमें उन्हें अपने ज्ञानस्वभावकी ही रुचि नहीं है और विकारभाव रुचता है; इससे ऐसी अपूर्व आत्मस्वभावकी बात कानमें पड़नेसे ऐसे जीव पुकार करते हैं कि–'अरे ! आत्मा परका कुछ नहीं करता–ऐसा कहना तो विषके इन्जेक्शन देने जैसा है !' अहो, क्या किया जाये ! यह भेदज्ञानकी परम अमृत जैसी बात भी जिन्हें विष जैसी लगी ! इनकी पर्यायका परिणमन भी स्वतंत्र है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, विकारका और परका वह अकर्ता है–ऐसी भेदज्ञानकी बात तो अनादिकालसे जो मिथ्यात्वरूपी विष चढ़ा है उसे उतार देनेके लिये, परम अमृतके इन्जेक्शन जैसी है ! यदि आत्मा एकबार भी ऐसा इन्जेक्शन ले तो उसके जन्म-मरणका रोग नष्ट होकर सिद्धदशा हुये बिना न रहे। आत्मा और विश्वका प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, परिपूर्ण है, निरावलम्बी है–ऐसा सम्यक्बोध तो परम अमृत है कि विष ? ऐसा परम अमृत भी जिन जीवोंको विषके इन्जेक्शन जैसा लगता है उन जीवोंको उनके मिथ्यात्वभावका बल ही वैसा पुकार रहा है ! यह तो निजकल्याण करनेके लिये और मिथ्यात्वरूपी विषको दूर करनेके लिये अचूक अमृतका इन्जेक्शन है। अपने परिपूर्ण स्वभावका विश्वास करे तो सम्यग्दर्शन प्रगट हो अर्थात् धर्मका पहलेसे पहला प्रारम्भ हो; और उसका विश्वास न करनेसे वाणीका या रागका विश्वास करे तो उस जीवको मिथ्यात्वरूप अधर्म ही होता है।

(१९) आत्मस्वभावका आश्रय करना वह प्रयोजन है!

आत्मस्वभाव समझनेमें, समझनेसे पूर्व और समझनेके पश्चात् भी सत्श्रुत निमित्तरूप होता है, उसका यहाँ निषेध नहीं है। परन्तु यदि

निमित्तोंका आश्रय छोड़कर अपने स्वभावका आश्रय करे तभी जीवको सम्यग्ज्ञान होता है; और इसप्रकार स्वाश्रयसे सम्यग्ज्ञान प्रगट करे तभी श्रुतको वास्तवमें उसका निमित्त कहा जाता है और उसके द्रव्यश्रुतके ज्ञानको व्यवहार ज्ञान कहा जाता है। इसप्रकार यहाँ निमित्तका–व्यवहारका आश्रय छोड़कर स्वभावका आश्रय करना ही प्रयोजन है। वही धर्मका मार्ग है।

(२०) ज्ञानी सारे दिन क्या करते हैं?

प्रश्न :–यदि श्रुत–शास्त्र ज्ञानके कारण नहीं हैं, तो फिर ज्ञानी दिनभर समयसार-प्रवचनसारादि शास्त्रोंको हाथमें रखकर स्वाध्याय क्यों करते हैं?

उत्तर :–प्रथम यह समझो कि आत्मा क्या है? ज्ञान क्या है? शास्त्र क्या हैं? और हाथ क्या हैं? हाथ और शास्त्र–दोनों तो अचेतन हैं, आत्मासे भिन्न हैं, उनकी क्रिया तो कोई आत्मा करता ही नहीं। ज्ञानीको स्वाध्याय आदिका विकल्प हुआ और उस समय ज्ञानमें उस प्रकारके ज्ञेयोंको ही जाननेकी योग्यता थी, इससे ज्ञान होता है और उस समय निमित्तरूप समयसारादि शास्त्र उनके अपने कारणसे स्वयं होते हैं; वहाँ ज्ञानीने तो आत्मस्वभावके आश्रयसे ज्ञान ही किया है। हाथकी, शास्त्रकी या रागकी क्रिया भी उसने नहीं की है। शास्त्रके कारण ज्ञान नहीं होता, और जीवके विकल्पके कारण शास्त्र नहीं आये हैं। ज्ञानका कारण अपना ज्ञानस्वभाव होता है या अचेतन वस्तु? जिन्हें अपने ज्ञानस्वभावकी श्रद्धा नहीं है और अचेतन श्रुतके कारण अपना ज्ञान मानते हैं, उन्हें सम्यग्ज्ञान नहीं होता। यह भगवान आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है। सर्वज्ञ वीतरागदेवकी साक्षात् वाणीका ज्ञानका असाधारण–सर्वोत्कृष्ट निमित्त है, वह अचेतन है, उसके आश्रयसे–

उसके कारणसे भी आत्माको किंचित् ज्ञान नहीं होता, तब फिर अन्य निमित्तोंकी तो बात ही क्या है !

(२१) भेदज्ञानके बिना आगे नहीं बढ़ा जा सकता

कोई ऐसा कहे कि–पहले तो वाणी आदि निमित्तोंके लक्ष्यसे ही आत्मा आगे बढ़ता है न ? तो उससे कहते हैं कि भाई ! वाणीके लक्ष्यसे अधिक तो पापभाव दूर होकर पुण्यभाव होगा; परन्तु वह कहीं आगे बढ़ा नहीं कहलायेगा; क्योंकि शुभभावों तक तो यह जीव अनंतबार आ चुका है। शुभ-अशुभसे आत्माका भेदज्ञान करके स्वभावमें आये तभी आगे बढ़ा कहा जाता है। निमित्तके लक्ष्यसे कभी भी भेदज्ञान नहीं होता; अपने ज्ञानस्वभावके लक्ष्यसे प्रारम्भ करे तभी आगे बढ़े और भेदज्ञान प्रगट करके पूर्णता प्राप्त करे।

(२२) आचार्यदेवके कथनमें गर्भितरूपसे नवों तत्त्व आ जाते हैं

श्री आचार्यदेवकी शैली बहुत गम्भीर है। प्रत्येक सूत्रका जितना विस्तार करना हो उतना हो सकता है। 'श्रुत है वह ज्ञान नहीं है'– ऐसा कहनेसे उसमें नवों तत्त्व गर्भितरूपसे आ जाते हैं। (१) स्वयं जीवतत्त्व चेतन है। (२) अपनेसे भिन्न द्रव्यश्रुत है वह अचेतन-अजीवतत्त्व है। (३) अपने लक्ष्यसे च्युत होकर उस अजीवकी (वाणीकी) ओर लक्ष करनेसे शुभराग होता है वह पुण्यतत्त्व है। (४) अशुभ है वह पापतत्त्व है। (५) वाणीके लक्ष्यसे होनेवाला विकार है वह आस्रवतत्त्व है। (६) प्रतिसमय विकार चालू है और उस विकारमें ज्ञान रुकता है–उसका नाम बंधतत्त्व है। (७-८) वाणी और आत्माको भिन्न जानकर यदि अपने स्वभावकी ओर उन्मुख हो तो सम्यग्दर्शनादि प्रगट होते हैं वह संवर-निर्जरा तत्त्व है। और (९) आत्मस्वभावमें लीन होनेसे रागादि दूर होकर ज्ञानकी पूर्णता होती है–वह मोक्षतत्त्व है।

(२३) मोक्ष कैसे होता है ?

मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा वाणी आदिसे पृथक् हूँ–ऐसा जिसने निर्णय किया वह अपने ज्ञानको परका अवलम्बन नहीं मानता। उसे अपने अन्तरस्वभावके आश्रयसे आत्माका ज्ञान प्रगट होता है और प्रतिक्षण शुद्धताकी वृद्धि होती जाती है।

'मुझे मोक्ष करना है अथवा मुझे धर्म करना है'–ऐसा अन्तरमें गोखता रहे तो उससे कहीं धर्म नहीं होगा। मोक्ष कैसे होता है वह बतलानेवाली संतोंकी वाणीके लक्ष्यमें रुक जाये तो भी मोक्ष नहीं होगा। अपनी वर्तमान पर्यायमेंसे विकार हटाकर मोक्षदशा प्रगट करना है–इसप्रकार पर्याय पर देखते रहनेसे भी मोक्ष नहीं होगा–धर्म नहीं होगा; परन्तु यह वाणी और अपूर्ण पर्याय मैं नहीं हूँ–ऐसा समझकर उसका लक्ष्य छोड़कर परिपूर्ण आत्मस्वभावका आश्रय करनेसे निर्मलदशा प्रगट होती है, और पराश्रयसे होनेवाले मिथ्यात्व–रागादिभाव दूर हो जाते हैं। आत्मा ज्ञान-आनन्दका बिंब है, उसमें परिपूर्ण ज्ञानसामर्थ्य है. उस सामर्थ्यका विश्वास करके उसका अनुभव करनेसे पर्यायमें पूर्ण ज्ञानसामर्थ्य प्रगट होता है। यही मुक्तिका उपाय है ?

(२४) यदि वाणीसे ज्ञान नहीं होता तो जिज्ञासु लोग सुनने क्यों आते हैं ?

प्रश्न :–यदि आत्मामें ही पूर्ण ज्ञानसामर्थ्य भरा है और वाणीसे ज्ञान नहीं होता, तो यह सब जिज्ञासु यहाँ सुनने क्यों आते हैं ? अपनेमें भरा है उसमेंसे क्यों नहीं निकालते ?

उत्तर :–यहाँ सुनने आते हैं इसमें आत्मा क्या करता है ? उसका विचार करो ! आत्मा कहीं जड़ शरीरको उठा नहीं लाया है;

शरीरका क्षेत्रान्तर उसके अपने कारणसे हुआ है और आत्माका क्षेत्रान्तर उसके अपने कारणसे हुआ है। जिज्ञासु जीवोंको सत्श्रवणकी इच्छा होती है वह शुभराग है; उस रागके कारण या श्रवणके कारण ज्ञान नहीं होता। और सत्श्रवणकी इच्छा हुई इसलिये आत्माका क्षेत्रान्तर हुआ– ऐसा भी नहीं है; क्योंकि इच्छा है वह चारित्रका विकार है और क्षेत्रान्तर होना वह क्रियावती शक्तिकी अवस्था है। दोनों पृथक्-पृथक् गुणोंके कार्य हैं। एक गुणकी पर्याय दूसरे गुणकी पर्यायमें कुछ भी कार्य नहीं करती; तब फिर आत्मा परवस्तुमें क्या करेगा ? श्रवण करते समय भी शब्दोंके कारण ज्ञान नहीं होता। ज्ञानकी उस समयकी पर्यायकी वैसी ही योग्यता है, इससे उस समय सम्मुख वैसे ही शब्द निमित्तरूप स्वयं होते हैं। अज्ञानीको ऐसा लगता है कि शब्दोंके कारण ज्ञान हुआ है; परन्तु वैसा नहीं है। आत्माकी समझ तो अन्तरस्वभावके आश्रयरूप पुरुषार्थसे ही होती है। जिज्ञासु जीवोंको कुगुरुका संग छोड़कर सत्पुरुषकी वाणी श्रवण करनेका भाव आता है, परन्तु 'मेरा' ज्ञान वाणीके कारण नहीं है, वाणीके लक्ष्यसे मेरा ज्ञान नहीं है; अन्तरमें ज्ञानस्वभावमेंसे ही मेरा ज्ञान आता है'—ऐसा निश्चय करके यदि स्वभावोन्मुख हो तभी सम्यग्ज्ञान होता है। वाणीके लक्ष्यसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता। इसप्रकार सत्का श्रवण करनेवाले जीवका ज्ञान स्वतंत्र है, इच्छा स्वतंत्र है, क्षेत्रान्तर स्वतंत्र है, शरीरकी क्रिया स्वतंत्र है और सामनेवालेकी वाणी भी स्वतंत्र है।

(२५) भगवानकी वाणी अचेतन है, उसमें ज्ञान नहीं है; ज्ञान तो आत्माके आश्रित है।

द्रव्यश्रुत स्वयं ज्ञान नहीं है और उसके आश्रयसे भी ज्ञान नहीं होता। श्री कुंदकुंदाचार्य स्वयं महाविदेहक्षेत्रमें जाकर सर्वज्ञदेव श्री सीमंधर भगवानकी दिव्यवाणीका आठ दिन तक श्रवण कर आये थे।

वे इस गाथामें कहते हैं कि भगवानकी दिव्यध्वनि तो अचेतन है, उसमें आत्माका ज्ञान नहीं है। भगवानकी वाणी भी ऐसा ही बतलाती है कि ज्ञानकी उत्पत्ति वाणीके कारण नहीं होती। आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है, उसीके आश्रित उसका ज्ञान है।

वाणी अचेतन है, उसमें ज्ञान नहीं है–यह व्यतिरेकपना कहा है, और ज्ञान आत्मा है–वह अन्वयपना है। अर्थात् आत्मा अपने स्वभावसे अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण है और वाणी आदिसे बिलकुल पृथक् है–इसप्रकार अस्ति-नास्ति द्वारा आचार्यदेव आत्मस्वभाव बतलाते हैं।

अचेतन वाणीके लक्षसे होनेवाला विकल्प और ज्ञानका विकास भी वास्तवमें अचेतन हैं। वाणीके लक्ष्यसे होनेवाले विकल्प की या विकासकी बात न करके वाणीको ही अचेतन कहा है; उसमें वाणीके आश्रयसे होनेवाले भाव भी अचेतन हैं–यह बात आ जाती है। आचार्यदेव कहते हैं कि वाणीके आश्रयसे तेरा ज्ञान प्रगट नहीं होगा। रागकी भूमिकामें वाणीकी ओर लक्ष्य जाता अवश्य है, परन्तु यदि वाणीका अवलम्बन मानकर रुक जाये तो वह मिथ्याज्ञान है। वाणीके अवलम्बनसे रहित पूर्ण ज्ञानस्वभावके आश्रयसे ही सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है। ज्ञान और वाणी पृथक् हैं। ज्ञानमेंसे वाणी नहीं निकलती और वाणीमेंसे ज्ञान प्रगट नहीं होता। ज्ञानमें जैसी योग्यता हो वैसी ही वाणी निमित्तरूप होती है–ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है; वहाँ अज्ञानी जीव भ्रमसे ऐसा मानता है कि वाणीके कारण ज्ञान होता है; इससे वह वाणीका आश्रय छोड़कर स्वभावका आश्रय नहीं करता–इससे उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता। ऐसे जीवको वाणीसे ज्ञानकी भिन्नता बतलाते हैं। ज्ञान चेतन है और वाणी जड़का परिणमन है। ज्ञान और वाणी दोनों अपनी-अपनी पर्यायमें क्रमबद्ध स्वतंत्ररूप परिणमित होते हैं।

(२६) द्रव्यदृष्टिके अपूर्व पुरुषार्थ बिना क्रमबद्धपर्यायकी या केवलज्ञानकी प्रतीति नहीं होती।

प्रश्न :–यदि प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध होती है, तो रागादिभाव होते हैं वे भी क्रमबद्ध होते हैं न ? तो फिर उन्हें दूर करनेका पुरुषार्थ नहीं रहता ?

उत्तर :–जिसे क्रमबद्धपर्यायकी श्रद्धा हुई हो उसे ऐसा प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि द्रव्यदृष्टिके बलसे ही अनादि अनन्त क्रमबद्ध पर्यायकी श्रद्धा होती है; द्रव्यदृष्टि हुये बिना क्रमबद्ध पर्यायकी यथार्थ श्रद्धा नहीं होती। और द्रव्यदृष्टि होनेसे जीव रागको अपना स्वरूप नहीं मानता; क्योंकि त्रिकाली द्रव्यमें राग नहीं है। इससे वह जीव वास्तवमें रागका ज्ञाता ही रहता है–इससे परमार्थसे उसे राग नहीं होता किन्तु टलता ही जाता है। मेरी और जगतके समस्त पदार्थोंकी अवस्था क्रमबद्ध होती है–ऐसा निर्णय करनेवाला जीव एक-एक पर्यायको नहीं देखता किन्तु द्रव्यके त्रिकाली स्वरूपको देखता है। ऐसा जीव रागकी योग्यताको नहीं देखता क्योंकि त्रिकाली स्वभावमें रागकी योग्यता नहीं है—इससे त्रिकाली स्वभावमें एकताके बलसे उसका राग दूर ही होता जाता है। ऐसे त्रिकाली स्वभावकी दृष्टि करनेमें रागरहित श्रद्धा-ज्ञानका अनन्त पुरुषार्थ कार्य कर रहा है। क्रमबद्ध पर्यायका विश्वास करनेसे तो परका, विकारका और पर्यायका आश्रय छूटकर मात्र अभेद स्वभावका ही आश्रय रहता है, उस स्वभावमेंसे रागकी उत्पत्ति होती ही नहीं–इससे क्रमबद्ध पर्यायकी श्रद्धावाले सम्यग्दृष्टिको क्रमशः स्वभावकी एकता ही होती जाती है और राग क्रमशः दूर ही होता जाता है। स्वभावदृष्टिके कारण उसके स्वभावकी उत्पत्तिका क्रम है और राग दूर होनेका क्रम है। तो फिर ''राग होना होगा तो होगा''—यह बात

कहाँ रही ? रागके उपर ही जिसकी दृष्टि है उसे तो राग और आत्माके भेदका विचार ही नहीं है; उसे तो राग ही आत्मा है—इससे उसके रागकी ही उत्पत्ति होती है; लेकिन जिसकी रागरहित चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि है और रागका निषेध है–उसके तो स्वभावकी निर्मलताकी ही उत्पत्ति होती है और राग दूर होता जाता है। सम्यग्दृष्टिको चारित्रकी निर्बलतासे जो अल्प राग होता है वह वास्तवमें उत्पत्तिरूप नहीं, किन्तु टलनेके लिये ही है; क्योंकि राग होता है उस समय भी रागका नहीं किन्तु द्रव्यका ही आश्रय है।

स्व और पर समस्त पदार्थ क्रमबद्धपर्यायमें परिणमित होते हैं–ऐसा निर्णय करने पर ही, ज्ञानका क्रम ज्ञानसे और वाणीका क्रम जड़से—इसप्रकार दोनोंका भेदज्ञान होकर ज्ञान अपने स्वभावमें ढलता है। स्वभावोन्मुख हुये बिना क्रमबद्धपर्यायका निर्णय नहीं हो सकता। जिस प्रकार स्व-द्रव्योन्मुख हुये बिना स्व-परकी क्रमबद्ध पर्यायका यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता, उसी प्रकार स्व-द्रव्यके निर्णय बिना यथार्थतया केवली भगवानका भी निर्णय नहीं हो सकता। स्वयं रागसे अंशतः पृथक् हुये बिना पूर्ण रागरहित केवलज्ञानीका निर्णय कैसे कर सकेगा ? राग और ज्ञानके बीचका भेदज्ञान हुये बिना रागरहित केवलज्ञानकी परमार्थसे प्रतीति नहीं होती; इससे ऐसा बतलाया है कि स्वद्रव्यके स्वभावके निर्णयसे ही धर्म होता है। केवली भगवानका निर्णय करनेमें भी परमार्थसे तो अपने आत्मद्रव्यके निर्णयका ही पुरुषार्थ है। आत्मनिर्णयके पुरुषार्थ बिना केवली भगवानके वचनोंकी भी यथार्थ प्रतीति नहीं कहलाती।

(२७) इस आत्मामें दूसरे केवली भगवानका अभाव है

केवलज्ञानी भगवान के लक्ष्यसे भी जो ज्ञान हो वह अचेतन

है। केवली भगवान स्वयं अपनेमें परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप हैं, परन्तु इस आत्माकी अपेक्षासे केवली भगवान परद्रव्य हैं–अचेतन हैं। इस आत्माके चैतन्यत्वमें केवली भगवानका अभाव है, इसलिये इस आत्मा की अपेक्षासे केवली प्रभु अचेतन हैं। केवली भगवान अपनेमें परिपूर्ण हैं और मेरे लिये वे शून्य हैं–मुझमें केवली भगवानका अभाव है। केवलीका ज्ञान भी मेरे ज्ञानका कारण नहीं है, और उनकी वाणी भी मेरे ज्ञानका कारण नहीं है। मैं अपनेमें ज्ञान-दर्शन-सुख-पुरुषार्थसे परिपूर्ण हूँ, और मेरे ज्ञानादिका केवली भगवानमें अभाव है। इसप्रकार अपनी परिपूर्णताका निर्णय करके ज्ञान स्वोन्मुख हो वह धर्म है। निर्बल अवस्थामें अल्प रागादि होते हैं–उस समय भी अपने पूर्ण वीतरागी स्वभावकी प्रतीति और अवलंबन धर्मात्माको नहीं छूटते।

(२८) वाणी और ज्ञानका भिन्न-भिन्न स्वभाव

वाणी अपनी अचेतनतासे परिपूर्ण है और मैं अपने चेतनत्वसे भरा हुआ हूँ। मेरे ज्ञानको वाणीकी आवश्यक्ता नहीं है और वाणीको मेरे ज्ञानकी आवश्यक्ता नहीं है—ऐसा जानकर जीव वाणीका और वाणीकी ओरके रागादिका आश्रय छोड़कर चैतन्यस्वभावका आश्रय लेता है। चैतन्यस्वभावी आत्मद्रव्यके लक्ष्यसे प्रतिसमय स्वभावकी शुद्धता बढ़ती जाती है; ऐसे सर्वविशुद्धज्ञानका इस अधिकारमें निरूपण है।

(२९) स्वतंत्र चैतन्यभगवान

प्रत्येक जीव स्वतंत्र चैतन्यभगवान है, अपने स्वभावसामर्थ्यसे परिपूर्ण है, उसके स्वभावमें किंचित् अपूर्णता–न्यूनता नहीं है कि उसे किसी दूसरेकी सहायता लेनी पड़े। और दूसरे जीव या जड़ पदार्थ भी अपूर्ण नहीं हैं कि वे इस जीवकी सहायताकी अपेक्षा रखें। जो जीव

स्वयं अपनी पात्रता प्रगट करेगा वह अपने ज्ञानसामर्थ्यसे सत्को समझेगा; उसमें कोई दूसरा उसे समझाने या रोकनेमें समर्थ नहीं है। यह आत्मा स्वयं समझनेके लिये किसी अन्यकी 'देव-शास्त्र-गुरुकी, शरीर-मन-वाणीकी या रागकी' अपेक्षा नहीं रखता। सामान्य चैतन्यस्वभावके आश्रयसे ही स्वयं सम्यग्ज्ञान प्रगट करके पूर्ण होता है। जीव-अजीव-पुण्य-पाप-आस्रव-बंध-संवर-निर्जरा और मोक्ष ऐसे नवतत्त्वके विकल्पोंसे भिन्न, नवतत्त्वके भेदसे पार जो अखण्ड, रागरहित चैतन्यतत्त्व है, उसीके आश्रयसे सम्यग्ज्ञान होता है, उसीकी श्रद्धासे सम्यग्दर्शन होता है और उसीमें एकाग्रतारूप स्वरूपरमणतासे सम्यक्चारित्र होता है–यही मोक्षका उपाय है।

(३०) श्रुतके लक्ष्यसे धर्म नहीं होता

आचार्यभगवान कहते हैं कि तेरा आत्मस्वभाव तुझसे ही है, श्रुतके कारण तेरा स्वभाव नहीं है। श्रुतको और आत्माको भिन्नत्व है। यदि तू ऐसा मानेगा कि–' श्रुत हो तो आत्माका लक्ष्य हो, श्रुतके लक्ष्यसे आत्मा समझमें आता है अथवा नवतत्त्वोंको जाननेसे (नवतत्त्वोंके लक्षसे) आत्मा समझमें आता है—तो तेरा लक्ष श्रुत परसे, नव तत्त्वोंके भेद परसे कभी नहीं हटेगा और कभी अभेद चैतन्यद्रव्यका लक्ष्य नहीं होगा,—इससे मिथ्यात्व दूर नहीं होगा और सदैव पुण्य-पाप-आस्रव और बंधभाव ही होते रहेंगे किन्तु संवर-निर्जरा या मोक्षरूप धर्म नहीं होगा। इसलिये हे भव्य ! तू श्रुतसे और श्रुतकी ओरके विकल्पोंसे भिन्न अपने चैतन्यस्वभावका विश्वास कर। जो अपने चैतन्यस्वभावका विश्वास करता है उस जीवको स्वाश्रयसे निर्मल धर्म प्रगट होता है।

(३१) देव-शास्त्र-गुरुके आश्रयसे मुक्ति नहीं है

स्वाधीन आत्मतत्त्वको परके आधारसे मुक्ति होती है—ऐसा

माननेवाला मिथ्यादृष्टि है और मनवानेवाले कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र हैं। 'हम सर्वज्ञ हैं, देव हैं, यदि तुझे कल्याण करना हो तो हमारा आश्रय कर, हमारी ओर लक्ष्य करनेसे तेरी मुक्ति हो जायेगी, हमारी भक्तिसे तेरा कल्याण हो जायेगा' ऐसा मनवानेवाले कुदेव हैं और उन्हें देवरूपसे माननेवाला जीव मिथ्यादृष्टि है। यह आत्मा ऐसा पराधीन नहीं है कि अपनी मुक्तिके लिये उसे किसी अन्यका आश्रय लेना पड़े ! ईश्वरकी भक्ति करो तो वह मुक्ति देता है अथवा शुभरागसे मुक्ति मिलती है— ऐसा माननेवाले जीव मूढ़-मिथ्यादृष्टि हैं। रागसे या जड़से शास्त्रोंसे– वाणीसे आत्माको धर्म मनाते हों वे शास्त्र कुशास्त्र हैं और वैसे जीव अज्ञानी–कुगुरु हैं। शास्त्रमें कभी ऐसा भी कथन आता है कि 'यदि जीव ज्ञानी पुरुषको पहिचानकर एकबार अर्पित हो जाये तो उसकी मुक्ति हुये बिना न रहे !' वहाँ जीवको अपना मिथ्या आग्रह और स्वच्छंद छुड़ाने तथा देशनालब्धि बतलानेका प्रयोजन है। ज्ञानीको पहचाननेमें अपना पुरुषार्थ है और ज्ञानी पुरुष जैसा शुद्ध आत्मा कहते हैं वैसा ही स्वयं समझे तभी ज्ञानी पुरुषकी ओर सच्ची अर्पणता हुई कहलाती है; और इस प्रकारकी अर्पणता करे उसकी मुक्ति हुये बिना नहीं रहती। परन्तु मात्र श्रीगुरुके प्रति शुभराग करके अर्पित हो जाना उसे मुक्तिका कारण कहनेका शास्त्रका तात्पर्य नहीं है। श्रीगुरुके प्रति राग करके रुक जाये, परन्तु वे जैसा आत्मस्वभाव कहते हैं वैसा स्वयं न समझे तो मुक्ति नहीं होगी।

(३२) अपूर्व सम्यक्त्व धर्म किसे प्रगट होता है ?

यथार्थ वस्तुस्वभावको दर्शानेवाले सच्चे देव-शास्त्र-गुरु कैसे होते हैं और उनसे विरुद्ध कथन करके आत्माको पराधीन मनानेवाले कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र कैसे होते हैं–उसकी पहिचान आत्मस्वभाव

समझनेके इच्छुक जिज्ञासुओंको प्रथम करना चाहिये। उसी प्रकार सुदेवादि द्वारा कहा गया प्रत्येक वस्तुका स्वतंत्र परिपूर्ण स्वरूप किस प्रकार है—वह समझना चाहिये। और कुदेव-कुशास्त्र तथा कुगुरुका श्रद्धान छोड़कर सच्चे देव-शास्त्र-गुरुका श्रद्धान करना चाहिये। देव-शास्त्र-गुरुके लक्ष्यसे ऐसी श्रद्धा करना वह व्यवहारश्रद्धा है; यदि उसीके लक्ष्यमें रुका रहे, तो भी मिथ्यात्वदशा दूर नहीं होगी। पर लक्ष्यसे हटकर राग और विकल्पका अवलम्बन छोड़कर अपने शुद्धात्माकी प्रतीति करे वह निश्चयश्रद्धान है वह अपूर्व धर्म है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरुकी श्रद्धा करनेसे गृहीत मिथ्यात्व दूर होता है और परमार्थ आत्मतत्त्वकी श्रद्धा करनेसे अनादिका अगृहीत मिथ्यात्व दूर होकर अपूर्व सम्यक्त्व प्रगट होता है। परमार्थ आत्मतत्त्वका श्रद्धान करे तो देव-शास्त्र-गुरुकी श्रद्धाको सच्चा व्यवहार कहा जाता है।

(३३) सत्-असत्के विवेक बिना धर्म नहीं होता

'यह भी सच्चा और इससे विरुद्ध दूसरा भी सच्चा; सब अपनी-अपनी अपेक्षासे सच्चे हैं; हमें किसीको मिथ्या नहीं कहना चाहिये'—इस प्रकार यथार्थ और मिथ्याका विवेक किये बिना जो भ्रमसे वर्तन करते हैं वे तो मूढ़दृष्टि हैं, उनमें सत्-असत्की परख करने जितनी ज्ञानशक्ति प्रगट नहीं हुई है। परसे लाभ होता है या देव-गुरु-शास्त्र इस आत्माको लाभ करते हैं अथवा इनके लक्षसे धर्म होता है –ऐसा मार्ग तीन कालमें सत्य नहीं है। किसी भी एक तत्त्वको दूसरे तत्त्वसे वास्तवमें कोई लाभ-हानि मनाये तो वह सत्यमार्ग नहीं है।

(३४) सच्चे देव-शास्त्र-गुरु स्वाश्रय करनेको कहते हैं

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु तो ऐसा कहते हैं कि–तेरा तत्त्व अपनेसे

पूर्ण है। हम पृथक् हैं और तू पृथक् है। कहीं हमारे आश्रयसे तेरा तत्त्व विद्यमान नहीं है। तेरे आत्माको हमने उत्पन्न नहीं किया है कि तुझे हमारा आधार हो। जगतमें समस्त तत्त्व अनादि-अनन्त स्वयंसिद्ध भिन्न भिन्न और परिपूर्ण हैं। हमारा अवलम्बन करनेसे तेरा सम्यग्ज्ञान या वीतरागता विकसित नहीं होंगे। हमारे आश्रयके बिना और हमारी अपेक्षा बिना, अपने स्वभावके अवलम्बनसे ही तुझे सम्यग्ज्ञान और वीतरागता होगी। इस प्रकार यथार्थ समझकर अपने ज्ञानको स्वभावोन्मुख करना अर्थात् स्वभावके आश्रयसे परिणमित होना वह धर्म है। उसीमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आदि सभी आ जाते हैं।

(३५) आत्माका स्वरूप

आत्मा ज्ञानमूर्ति है वह अन्य समस्त वस्तुओंसे भिन्न है। वह स्वयं किसी अन्यका कार्य नहीं है, अर्थात् वह अपने ज्ञान-आनन्द आदि कार्यों के लिये किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखता और स्वयं किसी दूसरेका कार्य नहीं करता। दूसरेके लक्ष्यसे होनेवाले पुण्य-पापके भाव भी उसका स्वरूप नहीं है। श्रुत भी आत्मासे पृथक् है; उसके लक्ष्यसे आत्माको धर्म नहीं होता। यहाँ 'श्रुत'से आत्माको भिन्न कहनेसे श्रुत अर्थात् द्रव्यश्रुत और उसके लक्षसे, होनेवाले रागादि विकल्प समझना चाहिये। आत्माके स्वभावको जाननेवाला जो 'भावश्रुत ज्ञान' है वह तो आत्माका ही स्वरूप है, वह कहीं आत्मासे भिन्न नहीं है।

(३६) गौणरूपसे व्यवहारकी सिद्धि

यहाँ 'श्रुतसे आत्मा पृथक् है'—ऐसा कहनेमें आचार्यदेवने गौणरूपसे व्यवहारको भी सिद्ध कर दिया है, और नवों तत्त्व भी

उसमेंसे सिद्ध हो जाते हैं। इस जगतमें आत्मा है और आत्माके अतिरिक्त दूसरे अजीव पदार्थ भी हैं। आत्माको समझनेवाले भी हैं और न समझनेवाले भी हैं, अर्थात् सच्चे देव-गुरु हैं और मिथ्या देव-गुरु भी हैं। सच्चे देव-गुरु कहनेसे उसमें संवर, निर्जरा और मोक्षतत्त्व आ जाते हैं और कुगुरु आदिमें आस्रव-बंध तथा पुण्य-पाप तत्त्व आ जाते हैं। श्रुत है, उस ओर अवस्थाका लक्ष्य जाता है, विकल्प होता है। उस श्रुतका लक्ष्य छोड़कर आत्माका लक्ष्य हो सकता है और विकार दूर करके पूर्ण ज्ञान दशा प्रगट हो सकती है,–यह सब जानना सो व्यवहार है।

(३७) स्वभावका आश्रय करना ही प्रयोजन

परन्तु यहाँ उस व्यवहारके समस्त भंगभेदरहित शुद्ध परिपूर्ण आत्मस्वभावकी श्रद्धा करानेका प्रयोजन होनेसे वह व्यवहार गौण है– हेयरूप है। और अखण्ड चैतन्यतत्त्वका आश्रय करना वह निश्चय है, वही उपादेयरूप है। मैं आत्मा परिपूर्ण चैतन्यरूप निरावलम्बी हूँ— ऐसी श्रद्धा करके उसका आश्रय करे और वाणीका आश्रय छोड़ दे तब निश्चय श्रद्धा-ज्ञान प्रगट होते हैं और तभी श्रुतको निमित्तरूप कहा जाता है और उसके द्रव्यश्रुतके ज्ञानको व्यवहारज्ञान कहते हैं। अपने स्वभावको जानकर उसमें स्थिर होना वह परमार्थ है।

(३८) आत्माकी सच्ची लगन

प्रत्येक आत्माका अपना स्वरूप ही ऐसा है। जो जीव अपने ऐसे स्वरूपको समझे उसीको कल्याण प्रगट होता है। और जिसे अपने आत्महितकी सच्ची दरकार है एवं भव-भ्रमणका भय है, वैसे आत्मार्थी जीवको ही सत्समागमसे आत्मस्वरूप समझमें आता है। अपने आत्माकी सच्ची लगनके बिना और सत्समागमके बिना आत्मस्वभाव

समझमें नहीं आ सकता, और आत्मस्वभावको समझे बिना जन्म-मरण दूर नहीं हो सकता।

(३९) आत्माकी पूर्णताको स्वीकार किये बिना धर्म नहीं होता

यदि स्वयं अपने आत्माकी परिपूर्णताको न माने तो वह परका आश्रय माने बिना नहीं रहेगा, और इससे वह जीव परके साथकी एकत्वबुद्धि छोड़कर अपने परिपूर्ण स्वभावकी ओर उन्मुख नहीं होगा, और न उसे धर्म होगा। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि तेरा आत्मा ज्ञानसे परिपूर्ण है, श्रुतके आश्रित तेरा ज्ञान नहीं है; इसलिये श्रुतका आश्रय छोड़कर अपने ज्ञानस्वभावका आश्रय कर, उसीके आश्रयसे धर्म प्रगट होता है और मुक्ति होती है।

(४०) भेदज्ञान ही मुक्तिका उपाय है

इस प्रकार श्रुत और ज्ञानकी भिन्नताको बतलाकर आचार्यदेवने सर्व प्रथम ही आत्मज्ञानमें असाधारण निमित्तरूप श्रुतका अवलम्बन छुड़ाया है। श्रुत कहनेसे यहाँ मुख्यतया दिव्यध्वनिकी बात है। उस श्रुतके अवलम्बनसे ज्ञान नहीं होता, परन्तु ज्ञानस्वभावके आश्रयसे ही सम्यग्ज्ञान होता है—ऐसा भेदज्ञान प्रगट करके स्वभावका आश्रय करना और पराश्रयको छोड़ना–वह मुक्तिका उपाय है।

[३]

(वीर सं. २४७४ भाद्रपद कृष्णा १३ बुधवार)

※ शब्दोंसे ज्ञानका भिन्नत्व ※

सर्व प्रथम 'श्रुत है वह ज्ञान नहीं है'–ऐसा कहकर असाधारण वाणीका आश्रय छुड़ाया। अब कहते हैं कि—'शब्द हैं वह ज्ञान नहीं है, क्योंकि शब्द अचेतन हैं, इसलिये 'शब्दोंका और ज्ञानका व्यतिरेक है।' आचार्यदेवने सामान्य भाषाके 'शब्दों'से दिव्यध्वनिको पृथक् करके पहले उसकी बात की है; अब यहाँ सामान्य 'शब्दों'की बात है।

(४१) शब्दोंके कारण ज्ञान नहीं है—ऐसा निर्णय करनेवाला ज्ञान स्वोन्मुख होता है।

आत्माका ज्ञानस्वभाव है, वह स्वभाव परके कारण नहीं है। 'शब्द' हैं इसलिये आत्मा जानता है—ऐसा नहीं है। सन्मुख शब्दोंका परिणमन है उसके कारण आत्माको ज्ञान या आनन्द नहीं है। निन्दा या प्रशंसाके शब्दोंके कारण ज्ञान नहीं होता; निन्दाके शब्दोंके कारण आत्माको दुःख नहीं है और प्रशंसाके शब्दोंके कारण सुख नहीं है। 'आत्मा शुद्ध है, परिपूर्ण है'—ऐसे शब्दोंमें कहीं आत्मा विद्यमान नहीं है। आत्मा तो ज्ञानस्वभावमें विद्यमान है। शब्द तो अचेतन हैं, ज्ञान उनसे पृथक् है। इस प्रकार शब्दोंसे आत्माकी भिन्नता जानकर शब्दोंका लक्ष्य छोड़कर 'मैं चैतन्य द्रव्य हूँ, ज्ञानादि गुणोंसे परिपूर्ण हूँ'—इस प्रकार स्वभावका निर्णय करके वर्तमान ज्ञान अवस्था स्वभावोन्मुख होनेसे द्रव्य-गुण-पर्याय एकतारूप परिणमित हों उसका नाम धर्म है। शब्दादि परपदार्थोंके कारण ज्ञान नहीं है—ऐसा निर्णय करनेवाला

'ज्ञान' शब्दोंका लक्ष्य छोड़कर स्वभावोन्मुख होता है।

(४२) ज्ञान और ज्ञेयका स्वतंत्र परिणमन

ज्ञान अपने स्वभावसे होता है, शब्द सुननेके कारण ज्ञान नहीं होता। घड़ीमें आठ टकोरे पड़े इसलिये 'आठ बजे'—ऐसा ज्ञान हुआ–ऐसा अज्ञानी मानते हैं। वास्तवमें तो ज्ञानकी वैसी ही योग्यतासे वह ज्ञात हुआ है—टकोरोंके कारण नहीं। जड़ शब्द जड़के कारण परिणमित होते हैं, और ज्ञान ज्ञानके कारण परिणमित होता है। ज्ञान और ज्ञेयका परिणमन एक ही समय वर्त रहा है, किन्तु दोनों स्वतंत्र हैं।

घड़ीमें जिस समय नौ बजनेमें पाँच मिनिट कम हो, उस समय ज्ञान भी वैसा ही जानता है; और कोई पूछे कि—कितने बजे हैं? तो वाणीमें भी ऐसा ही आता है कि 'नौ में पाँच मिनिट कम हैं' और उस पूछनेवाले जीवको भी ऐसा ही ज्ञान होता है। इस प्रकार सबका मेल बैठता होने पर भी प्रत्येक प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्ररूपसे अपने स्वकालमें ही, परकी अपेक्षाके बिना परिणमित हो रहा है। घड़ीमें 'नौंमें पाँच कम हों' तब ज्ञान वैसा ही जानता है; लेकिन 'बारह बजे हैं'– ऐसा नहीं जानता। तथापि घड़ीके कारण ज्ञान नहीं हुआ है। ज्ञानके कारण 'नौ में पाँच मिनिट कम' ऐसी वाणी नहीं हुई है और उस वाणीके कारण दूसरे जीवको वैसा ज्ञान नहीं हुआ है।

(४३) रुचिरूपी तारके द्वारा यह बात झटसे आत्मामें उतर जाती है।

अहो! यह ज्ञानकी परिपूर्ण स्वतंत्रताकी बात है। जिसे चैतन्यस्वभावकी रुचि नहीं है उसे यह बात नहीं जमती। लेकिन जिस प्रकार बड़े और ऊँचे मकानों पर ताम्रका ऐसा तार लगाते हैं कि जिससे

बिजली गिरे तो मकानको नुकसान पहुँचाये बिना तार द्वारा सीधी जमीनमें उतर जाये। उसीप्रकार जिसने चैतन्यकी रुचिरूप तार आत्माके साथ जोड़ा है उसे यह चैतन्यकी स्वाधीनताकी बात रुचि द्वारा झटसे आत्मामें उतर जाती है। स्व-परका भेदज्ञान होनेसे वस्तुकी स्वतंत्रताको किंचित् हानि पहुँचाये बिना उसका ज्ञान चैतन्यकी ओर उन्मुख हो जाता है।

(४४) शब्द स्वयं होते हैं, जीव नहीं करता

जड़ और चेतन प्रत्येक वस्तुकी प्रतिसमयकी स्वाधीनता है; उसे अज्ञानीजन नहीं मानते हैं, इससे 'हम भाषादिके कर्ता हैं और भाषाके कारण हमारा ज्ञान होता है'—ऐसा वे मानते हैं; इससे वे अपनेको और परको प्रति समय पराधीन मानकर स्वयं पराधीन होते हैं, वही दुःख और अधर्म है। यहाँ शब्द और ज्ञानकी अर्थात् जड़ और चेतनकी भिन्नता बतलाकर आचार्यदेव स्वतंत्रताका भान कराते हैं। इस जगतमें भाषावर्गणाके स्कन्ध हैं, वही स्वयं शब्दरूप परिणमित होते हैं; इसके अतिरिक्त दूसरे भी अनंत स्कन्ध हैं लेकिन वे शब्दरूप परिणमित नहीं होते। जिसप्रकार जुआरके आटेसे पूड़ियाँ नहीं बन सकती, उसी प्रकार शरीर, कर्म, शब्द—इन सबकी भिन्न-भिन्न वर्गणाएँ हैं; उनमेंसे शरीरादि होते हैं। भाषा होने योग्य जो भाषावर्गणाएँ हैं वही शब्दरूप होती हैं, तब फिर जीव उसमें क्या करेगा ? आकाश सर्वत्र फैला हुआ स्थिर और अरूपी है, उसमें चलनेकी या आवाज होनेकी शक्ति ही नहीं है; और परमाणुओंमें हलन-चलनकी तथा भाषादिरूप होनेकी शक्ति है, इससे वे स्वयं उस रूप होते हैं, जीव उसमें कुछ नहीं कर सकता। जीवके ज्ञानके कारण शब्द नहीं होते और शब्दोंके कारण जीवका ज्ञान नहीं होता। ज्ञान जीवकी स्वाधीन शक्तिसे ही होता है।

(४५) ज्ञेय, भाषा और ज्ञान–इन तीनोंकी स्वतंत्रता जानकर स्वभावोन्मुख हो उसे धर्म होता है।

घड़ीमें आठ बजकर पाँच मिनिट हुये हों तब ज्ञान वैसा ही जानता है; लेकिन बारह बजे हैं–ऐसा नहीं जानता। वहाँ घड़ीके कारण ज्ञान नहीं हुआ है। घड़ीमें इतने बजे हैं इसलिये इतना ज्ञान हुआ–ऐसा नहीं है। और 'ज्ञानने जैसा जाना' वैसी ही भाषा आती है, तथा सामनेवाला जीव भी वैसा ही समझ जाता है;—ऐसा मेल होने पर भी ज्ञानने जाना इसलिये भाषा नहीं हुई है और भाषाके कारण सामनेवाले जीवको वैसा ज्ञान नहीं हुआ है। ज्ञानकी अवस्था स्वावलंबी चैतन्यके आश्रयसे ही कार्य करती है—ऐसा समझकर अपने ज्ञानस्वभावकी ओर उन्मुख होकर त्रिकाली स्वभावकी श्रद्धा प्रगट करना, वह सम्यक्श्रद्धा है। परन्तु घड़ी इत्यादि ज्ञेयोंके कारण या शब्दोंके कारण ज्ञान हुआ है—ऐसा माने उस जीवने आत्मामें ज्ञान और शांति नहीं माने हैं—इससे वह जीव अपने स्वभावकी ओर नहीं ढलता और न उसका मिथ्यात्व दूर होता है। प्रशंसाके शब्द जगतमें परिणमित हों उनसे आत्माको सुख या ज्ञान नहीं है; तथापि उनसे ज्ञान या सुख माने तो उस जीवका ज्ञान परमें लीन हुआ है, वह ज्ञान अचेतन है–अधर्म है। शब्दोंसे और उस ओरके क्षणिक ज्ञानसे पृथक् अपना परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव है—ऐसा अभिप्राय होनेसे, शब्दोंको या अपूर्णदशाको स्वीकार न करके वर्तमान अवस्था पूर्ण स्वभावोन्मुख होती है। द्रव्य-गुण तो त्रिकाल पूर्ण हैं ही, और उनकी ओर उन्मुख होनेवाली अवस्था भी परिपूर्णको ही स्वीकार करती है, इससे वह अवस्था भी पूर्णके आश्रयसे पूरी ही होती है।

(४६) ज्ञानस्वभावको जाने बिना ज्ञेयका स्वभाव नहीं जाना जा सकता।

जो जीव शब्दोंका और उन्हें जाननेवाली ज्ञानअवस्थाका ही स्वीकार करे वह उनकी ओर ही देखता रहता है, लेकिन अपने स्वभावको नहीं देखता। ज्ञेयोंको जाननेवाला ज्ञान जहाँसे आता है–ऐसे अपने स्वभावका जो स्वीकार न करे उसने वास्तवमें ज्ञानका या ज्ञेयका भी यथार्थ स्वीकार नहीं किया है; क्योंकि ज्ञान स्वतः होता है उसे न जानकर शब्दोंके कारण ज्ञान माना है–अर्थात् ज्ञानको स्वतंत्र सत्रूप स्वीकार नहीं किया है, और शब्द ज्ञानसे भिन्न हैं–अचेतन हैं, तथापि उन्हें ज्ञानका कारण माना है, उसने शब्दोंको भी स्वीकार नहीं किया है। शब्दोंका स्वभाव ज्ञानमें ज्ञात होनेका है, लेकिन ज्ञानका कारण होनेका नहीं है, और ज्ञानका स्वभाव स्व-परको अपनेसे जाननेका है, परमें कुछ करनेका उसका स्वभाव नहीं है–ऐसा समझे तो ज्ञान और ज्ञेयको यथार्थ जाना कहलाये। मेरी ज्ञानदशा अपने सामान्य ज्ञानस्वभावके आश्रयसे होती है और शब्द मेरे कारणसे नहीं किन्तु परमाणुके कारणसे होते हैं–इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्वभावको स्वीकार करके अपनेको जानते हुये परको भी यथार्थ जानता है।

(४७) ज्ञान निश्चयसे स्वको जानता है और व्यवहारसे परको जानता है।

आत्मा निश्चयसे तो अपने स्वभावकी ओर उन्मुख होकर अपनेको ही जाननेवाला है; परको जाननेवाला तो व्यवहारसे है। परको जाननेवाला व्यवहारसे है–ऐसा कहा है; उससे यहाँ ऐसा नहीं समझना कि परद्रव्यका ज्ञान आत्माको होता ही नहीं। आत्माका ज्ञान परको जानता तो है ही; लेकिन परसन्मुख होकर परको नहीं जानता किन्तु

स्वभावसन्मुख रहनेसे परवस्तुएँ सहज ही ज्ञात हो जाती हैं; वहाँ 'ज्ञान परको जानता है'—ऐसा कहनेसे परकी अपेक्षा आती है इसलिये उसे व्यवहार कहा है। परसे भिन्न रहकर परको जानता है इसलिये व्यवहार है और स्वमें एकतापूर्वक स्वको जानता है इसलिये स्वका ज्ञाता है– वह निश्चय है। इससे जिस प्रकार स्वके ज्ञान बिना परका ज्ञान नहीं होता उसीप्रकार निश्चयके बिना व्यवहार नहीं होता—यह बात भी इसमें आ जाती है।

(४८) प्रति समय ज्ञानका नवीन कार्य

अहो ! नयी-नयी अपेक्षासे प्रतिदिन स्वभावकी बात आती है, उसे जाननेमें ज्ञानकी विशालता है। ज्ञानका स्वभाव जाननेका है, उसकी प्रतिसमय नवीन-नवीन अवस्थाएँ होती हैं, और यदि वे नवीन-नवीन अवस्थाएँ नया-नया कार्य न करें–नया-नया ज्ञान न करें तो वे अवस्थाएँ ज्ञानस्वभावके आश्रयसे नहीं हुई हैं। यहाँ नवीन-नवीन शब्दोंको जाननेकी बात नहीं है परन्तु अन्तरमें प्रतिसमय स्वभावकी ओरका ज्ञान बढ़ता जाये और नवीन-नवीन निर्मल भावोंका ज्ञान होता जाये–उसकी बात है। साधक जीवको स्वभावके आश्रयसे प्रतिसमय ज्ञानकी निर्मलता बढ़ती जाती है और विशेष-विशेष भावोंका ज्ञान होता जाता है।

कोई ऐसा कहे कि 'यह तो जो फल जाना था वही का वही ज्ञान है; कल सुना था वही यह है।'—ऐसा मानने वालेका झुकाव शब्दोंकी ओर है। अपना सामान्यज्ञान प्रतिसमय बदलकर नवीन-नवीन कार्य ही करता है–इसका उसे विश्वास नहीं है। शब्दोंके अवलम्बन बिना ही ज्ञान होता है। कल जो जाना था उसमें तो कल की ज्ञानपर्यायने कार्य किया था और जो वर्तमानमें जानता है उसमें वर्तमान

ज्ञानपर्याय कार्य कर रही है। इस प्रकार जो अपने ज्ञानके पुरुषार्थको स्वीकार नहीं करता उस जीवको–जो ज्ञानपर्याय प्रतिसमय स्वभावोन्मुख होनेका नवीन पुरुषार्थ कर रही है–उसकी खबर नहीं है। साधक जीवको स्वभावके आश्रयसे प्रति समय ज्ञानकी शुद्धता बढ़ती जाती है। प्रतिसमय बदलता हुआ ज्ञानका भाव है, और सामने भी निमित्तरूपसे प्रत्येक समयकी शब्दोंकी अवस्था बदल रही है। वहाँ अपने ज्ञानको स्वीकार करनेवाला स्वभावोन्मुख होता है, वह धर्मी है; और जो जीव शब्दोंकी ओर ढलता है उसे ज्ञानस्वभावकी प्रतीति नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है।

(४९) स्वभावके अवलम्बनसे प्रति समय धर्म

शब्दोंसे ज्ञान नहीं होता–ऐसा जिस ज्ञानने एकबार निर्णय किया, फिर दूसरे समयमें वह दूसरे समयका ज्ञान स्वयं स्वभावोन्मुख होकर स्वतंत्र निर्णय करता है। पहले समयका ज्ञान कहीं दूसरे समय कार्य नहीं करता। जो नवीन-नवीन अवस्थाएँ होती जाती हैं वह प्रत्येक अवस्था अपने त्रिकाली स्वभावके अवलम्बनको स्वीकार करती है और शब्दादिके अवलम्बनको नहीं स्वीकारती; इससे वैसे जीवको प्रति समय नवीन आत्मधर्म होता है। पूर्वकी पर्यायने अपने स्वकालमें कार्य कर लिया, पश्चात् जो नवीन अवस्था होती है उसे पूर्व पर्यायके साथ सम्बन्ध नहीं है, किन्तु वर्तमान वर्तती पर्याय स्वयं उस समय त्रिकाली स्वभावके साथ एकता करती है–वह धर्म है। इससे प्रत्येक समयका धर्म स्वतंत्र है। प्रति समय नवीन-नवीन दशामें नया-नया धर्म (विशेष-विशेष निर्मलता) होता है। जिसे अपने ज्ञानमें शब्दादि ज्ञेयोंकी ही नवीनता भासित होती है, लेकिन उस समय अपने ज्ञानमें विशेष-विशेष अवस्था होती जाती है उस ज्ञानका सामर्थ्य भासित नहीं होता, वह जीव अपने त्रिकाली ज्ञानस्वभावके साथ वर्तमान पर्यायकी संधि

नहीं करता, किन्तु ज्ञेयोंके साथ ज्ञानकी एकता करता है–मानता है वह अज्ञानी है, उसे प्रतिसमय अधर्म होता है।

'शब्द है वह ज्ञान नहीं है'—ऐसा कहनेसे निन्दाके या प्रशंसाके, ज्ञानीके या अज्ञानीके सभी शब्द उसमें आ जाते हैं। आत्मा प्रति समय अपने ज्ञानरूप परिणमित होता है, और सम्मुख ज्ञेयरूपमें भिन्न-भिन्न शब्दादि परिणाम हैं। मेरा चैतन्यपरिणामरूप धर्म प्रति समय स्वभावके आश्रयसे होता है–ऐसी रुचि और विश्वास द्वारा त्रिकाली द्रव्यके साथ वर्तमान परिणामकी एकता होनेसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है, वह धर्म है।

(५०) आह्लाद कैसे प्रगट हो?

श्री आचार्यदेव करुणापूर्वक कहते हैं कि अरे हे जीव ! तू अपने स्वाधीन आत्मतत्त्वको भूलकर पर्याय-पर्यायमें पराधीन हो रहा है। शब्दादि नवीन-नवीन होते हैं, उनकी नवीनतासे तुझे आह्लाद लगता है; परन्तु भाई ! तेरा ज्ञान तो उससे बिलकुल भिन्न है। परमें तेरा आह्लाद नहीं है। तेरे आत्माके स्वभावमेंसे प्रति समय नवीन-नवीन भाव आते हैं, उनका आह्लाद तुझे क्यों नहीं है? हे भाई ! अपने ज्ञानमेंसे तू परकी रुचि और ममत्व छोड़कर अपनी वर्तमान पर्यायमें त्रिकाली चैतन्यस्वभावकी रुचि तो कर ! अपनी पर्यायका अपने द्रव्यके साथ मेल तो कर ! यदि अपनी पर्यायको अपने द्रव्यके साथ अभेद करके उसका विश्वास करे तो अपने द्रव्यमेंसे आनेवाले अतीन्द्रिय आह्लादका अनुभव तुझे उस पर्यायमें हो !

(५१) शब्दोंका अवलंबन छोड़कर आत्माका आश्रय कर!

हे भाई ! तू अंतरमें विचार कर कि–जिस समय श्रुतके श्रवणका या निन्दा-प्रशंसादि अन्य शब्दोंके श्रवणका काल है, उस

कालमें उन शब्दोंको जानने जितना ज्ञान ही तेरा स्वरूप है ? या उसके अतिरिक्त अन्य भी कुछ तुझ में है ? शब्द हैं वह ज्ञान नहीं है और शब्दोंको ही जानने जितना तेरा स्वरूप नहीं है; परन्तु शब्दोंका लक्ष्य छोड़कर अन्तरोन्मुख होनेसे त्रिकाल आत्मस्वभावकी रुचि करके उसे जो ज्ञान जाने वह ज्ञानपरिणाम आत्मा है। आत्मा और उसकी ओर उन्मुख ज्ञानपरिणाम पृथक् नहीं हैं; किन्तु शब्द और ज्ञान तो भिन्न हैं। शब्दोंकी ओर एकाग्र होता हुआ ज्ञान भी परमार्थतः आत्मस्वभावसे भिन्न है। शब्द अचेतन हैं और ज्ञान चेतन है, उन दोनोंका भिन्नत्व है; आत्मा शब्दोंके कारण या उनके अवलम्बनसे नहीं जानता। जिस ज्ञानमें शब्दादिका अवलम्बन है वह ज्ञान आत्मस्वभावको जाननेका कार्य नहीं कर सकता अर्थात् वह मिथ्याज्ञान है। इस प्रकार जो जीव शब्द और ज्ञानकी भिन्नताको समझता है वह शब्दादिके साथ एकत्वबुद्धि छोड़कर उनसे उदासीन होकर अपने स्वभावकी रुचि करता है। त्रिकाली चैतन्यकी रुचि और आश्रयसे जो ज्ञान परिणाम प्रगट हुये वह सम्यग्ज्ञान है, उसे जिनेन्द्र भगवानने धर्म कहा है।

(५२) जीव और अजीवका स्वतंत्र अस्तित्व और परिणमन

इस जगतमें अनादिसे अजीव परमाणु हैं इसलिये जीव है—ऐसा नहीं है; और जीव है इसलिये अजीव है—ऐसा भी नहीं है। जीव और अजीव दोनों तत्त्व अपने अपने स्वतंत्र स्वभावसे अनादिकालीन हैं। जिस प्रकार जीव और अजीव द्रव्योंका अस्तित्व एक दूसरेके कारण नहीं है, उसी प्रकार उनकी पर्यायें भी एक दूसरेके कारण नहीं होतीं। ज्ञान कहीं शब्दोंको नहीं करता और न शब्दोंके कारण ज्ञान होता है। इस प्रकार शब्दोंसे भिन्न अपने ज्ञानस्वभावकी श्रद्धा करना, वह अपूर्व सम्यक्त्व धर्म है।

(५३) वर्णमें क्रम है, भेदज्ञान करनेमें क्रम नहीं है

इस प्रकार शब्दसे भेदज्ञान कराके अब, रूपसे भेदज्ञान कराते हैं। वास्तवमें तो जो जीव शब्द और ज्ञानका भेदज्ञान करे उसे रूपादिसे भी भेदज्ञान होता ही है। अपने ज्ञानस्वभावका शब्दोंसे भिन्नत्व जाने और रूपादिसे भिन्नत्व न जाने–ऐसा होता ही नहीं। अस्तिरूपसे जिसने अपने ज्ञानस्वभावको जाना है उसे शब्द-रूप-रस-राग-द्वेषादि सर्व लोकालोकसे अपना भिन्नत्व ज्ञात हुआ है; लेकिन यहाँ मात्र वर्णनमें क्रम पड़ता है। विशेष विशेष पहलुओंसे समझानेसे क्रम पड़ता है; इससे पहले शब्दसे भिन्नत्व समझाकर अब रूपसे भिन्नत्वका वर्णन करते हैं।

* रूपसे ज्ञानका भिन्नत्व *

रूप है वह ज्ञान नहीं है, क्योंकि रूप अचेतन है, इसलिये रूप और ज्ञान पृथक् हैं। रूप आँखका विषय है। आँखके द्वारा ज्ञान जो कुछ जाने वह सब अचेतन है। भिन्न-भिन्न कालमें भिन्न भिन्न रूपका ज्ञान होता है, वहाँ रूपके अवलम्बनसे ज्ञानका अस्तित्व नहीं है, परन्तु अपने त्रिकाली आत्माके आधारसे ज्ञानपर्यायका अस्तित्व है। प्रति समय नवीन नवीन ज्ञानपर्यायें अपने त्रिकाली ज्ञानस्वभावमेंसे होती हैं, उस स्वभावको न देखकर जो जीव रूपके अवलम्बनसे ज्ञान मानते हैं उन्हें आत्माकी प्रतीति नहीं है।

(५४) मूर्ति या चित्रके कारण ज्ञान नहीं होता

बालक, घोड़ा, हाथी, सिंह इत्यादि जो रूप दिखलाई देते हैं उनमें ज्ञान नहीं है और जो बड़े बड़े धार्मिक चित्र होते हैं उनमें भी ज्ञान नहीं है, वह तो पुद्गलके रूपगुणकी अवस्था है। रूप अचेतन है, उसमें किंचित् ज्ञान नहीं है और आत्मामें परिपूर्ण ज्ञान है। रूपके

कारण आत्मा नहीं जानता। भगवानकी मूर्ति भी रूप है, उसमें ज्ञान नहीं है। भगवान महावीरका चित्र या मूर्ति हो उसे जानते समय उसके कारण महावीर भगवानका ज्ञान नहीं हुआ है।

(५५) जैसे ज्ञेय होते हैं वैसा ही उन्हें ज्ञान जानता है, तथापि ज्ञेयके कारण ज्ञान नहीं है

प्रश्न :—यदि सामनेवाले चित्र या मूर्तिके कारण ज्ञान न होता हो तो, जब सम्मुख महावीर भगवानकी मूर्ति हो तब उनका ज्ञान होता है और सीमंधर भगवानकी मूर्ति हो तब उनका ज्ञान होता है—ऐसा क्यों ? और यदि सामने समयसार हो तो उसका ज्ञान होता है, तथा प्रवचनसार हो तो उसका ज्ञान होता है—ऐसा क्यों होता है ?

उत्तर :—ज्ञानका स्वभाव पदार्थको यथावत् जाननेका है। जो जैसा हो उसे वैसा ही जाननेका ज्ञानका स्वभाव है; ज्ञानस्वभाव विपरीत नहीं जानता; इसलिये जैसा ज्ञेय हो वैसा ही ज्ञानमें ज्ञात होता है, परन्तु जाननेकी योग्यता ज्ञानकी अपनी ही है। सन्मुख वैसा ज्ञेय है इसलिये उसी प्रकार ज्ञान होता है—ऐसा नहीं है। ज्ञान ज्ञानके कारण होता है, और ज्ञेय उनके अपने कारण होते हैं। रूपके समय यदि उस रूपके कारण ज्ञान होता हो तो आत्माने उस समय क्या कार्य किया ? क्या उस समय आत्मा चला गया है ? जिसने रूपके कारण ज्ञान माना है उसने आत्माका अस्तित्व ही नहीं माना है। ज्ञान आत्माका स्वभाव है—ऐसी प्रतीति उसे नहीं हुई है; किन्तु रूप और ज्ञानकी एकता मानी है वही अधर्म है।

(५६) मूर्ति आदि देखते समय भी अज्ञानीको अधर्म और ज्ञानी को धर्म–क्यों—

मैं अपने ज्ञानसे ही जानता हूँ, रूपके कारण नहीं—इस प्रकार

रूपसे अपने भिन्नत्वका निर्णय करके धर्मी जीव अपने ज्ञानस्वभावका आश्रय करते हैं और रूपका आश्रय छोड़ते हैं। स्वभावके आश्रयसे जो पर्याय प्रगट होती है वह धर्म है। भगवानकी मूर्ति देखते समय भी अज्ञानीको अधर्म होता है क्योंकि उसने अपने ज्ञानको पराश्रित माना है, इससे अचेतन मूर्तिके साथ ज्ञानको एकमेक माना है–वह मान्यता ही अधर्मका मूल है। और धर्मी जीव पुत्रादिका रूप देखता हो उस समय भी उसे धर्म होता है। यह ध्यान रखना कि रूप को देखनेका भाव तो राग है, उस राग को कहीं धर्मका कारण नहीं कहते हैं, परन्तु उसी समय धर्मी जीवके अभिप्रायमें ज्ञानस्वभावका आश्रय है, इससे ज्ञानस्वभावके आश्रयसे उसे प्रति समय धर्म होता है—एक समय भी धर्मके बिना नहीं जाता। जितना राग है उतना दोष है।

रूप अचेतन है, मेरा आत्मा रूपसे पृथक् है, रूपके कारण मुझे ज्ञान नहीं होता और रूपको जाननेवाली पर्याय जितना भी मैं नहीं हूँ, मेरा आत्मस्वभाव ज्ञानसे पूर्ण है—इस प्रकार स्वभावकी स्वीकृति करके (द्रव्यदृष्टि करके) ज्ञानीकी पर्याय परिणमित होती है, इससे उसकी पर्याय प्रति समय द्रव्यस्वभावमें ढलती है, इसलिये रूप आदिको देखते समय भी उसे धर्म है; क्योंकि उस समय चैतन्यका आश्रय नहीं छूटता।

(५७) प्रत्येक साधक जीवको स्वभावदृष्टिकी समानता

साधक जीवोंको प्रति समय पर्यायकी शुद्धता बढ़ती जाती है, लेकिन उनकी दृष्टि उन पर्यायों पर नहीं होती। प्रति समय होनेवाली प्रत्येके अवस्था पूर्ण चैतन्यस्वभावका ही स्वीकार करती है, प्रत्येक अवस्था पूर्ण स्वभावके साथ ही एकता करती है। गणधरदेवकी अवस्था या छोटे से छोटे सम्यग्दृष्टिकी अवस्था—यह दोनों अवस्थाएँ

त्रिकाली स्वभावमें ही अभेद होती हैं, इससे इस अपेक्षासे वे दोनों समान हैं। अहो ! यह स्वभावदृष्टिकी अपूर्व बात है; जो यह समझ ले उसका कल्याण हो जाये।

(५८) स्वभावोन्मुख होकर आत्माका निर्णय करनेवाले मति-श्रुतज्ञानकी प्रत्यक्षता

और, आत्मस्वभावोन्मुख हुआ मति-श्रुत ज्ञान भी वास्तवमें प्रत्यक्ष है। आत्मा ज्ञानस्वभावी है, उसकी अवस्थामें पहले अल्प ज्ञान था और फिर अधिक ज्ञान हुआ; वह अधिक ज्ञान कहाँसे आया ? त्रिकाल शक्तिमेंसे ज्ञान प्रगट होता है। उस त्रिकाली ज्ञानशक्तिका निःसंदेह निर्णय–इन्द्रियों और राग के अवलम्बन बिना–सीधा अपने आत्मासे ही किया है, इसलिये वह निर्णय करनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष है। यदि किसी परकी अपेक्षासे–परके आश्रयसे निर्णय किया हो तो वह निर्णय सच्चा नहीं है। स्वभावका निर्णय परके अवलम्बनसे नहीं होता। मति-श्रुतज्ञान स्वभावके आश्रयसे स्वभावका निर्णय करते हैं, इसलिये स्वको जाननेमें तो मति-श्रुतज्ञान भी प्रत्यक्ष हैं।

(५९) जीवका ज्ञानस्वभाव और रूपका ज्ञेयस्वभाव

अपने चेतन स्वभावसे आत्माका अस्तित्व है, और उस स्वभावके कारण ज्ञान होता है। शरीरके रूपके कारण आत्माका अस्तित्व नहीं है। अचेतन पदार्थोंमें भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होती रहती हैं और वे ज्ञानका ज्ञेय हों—ऐसी उनमें शक्ति है; परन्तु ज्ञानका कारण होनेकी शक्ति उनमें नहीं है। ज्ञानकी अवस्था अपने ज्ञानस्वभावके बदलनेसे परिणमित होनेसे होती है। स्त्री, शरीर, लक्ष्मी और जिनप्रतिमा आदि अचेतन हैं, उनके कारण मेरा ज्ञान या सुख नहीं है। अज्ञानी जीव परवस्तुके कारण ज्ञान या सुख मानता है, वह उसका भ्रम है। ज्ञानी

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ-३६४२५०

जानता है कि मेरा ज्ञान और सुख मेरे अपने कारण है और ज्ञेय पदार्थ उनके अपने कारण हैं।

(६०) रूप और ज्ञानके भेदविज्ञानसे धर्मका अपूर्व प्रारम्भ

जो जीव रूपादि पर वस्तुओंके कारण अपना ज्ञान मानते हैं; अथवा उन रूपादिको जानने जितना ही अपने ज्ञानको मानते हैं उन जीवोंको परवस्तुकी रुचि दूर नहीं होती और उसमें सुखकी मान्यता नहीं मिटती; इससे उन्हें कभी सच्चा वैराग्य या त्याग नहीं होता। मेरा ज्ञान रूपादिसे भिन्न है; रूपको देखते समय उतने ही ज्ञान जितना मैं नहीं हूँ और रूपके आधारसे मेरा ज्ञान नहीं है, मेरा ज्ञान तो त्रिकालस्वभावके आधारसे है—इसप्रकार यदि स्वभावकी रुचि करे तो परावलम्बन दूर होकर स्वाधीनता हो। रूपादिसे ज्ञान भिन्न है—ऐसा जो निर्णय करे उसे कभी रूपादि विषयोंमें सुखबुद्धि नहीं होती, इससे ज्ञानस्वभावका सच्चा निर्णय करते ही अनन्त राग-द्वेष तो दूर हो ही गया, और धर्मका अपूर्व प्रारम्भ भी हो गया।

(६१) आत्माके अवलम्बनसे धर्म और परके अवलम्बनसे अधर्म

ज्ञान तो आत्माका स्वभाव है और रूप अचेतन है। रूपमें ज्ञान नहीं है। शरीरके रूपके साथ ज्ञानका सम्बन्ध नहीं है। ज्ञानको रूपका अवलम्बन नहीं है, किन्तु उसे तो आत्माका ही अवलम्बन है। इस प्रकार आत्मस्वभावका अवलम्बन करके जो श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप स्वावलम्बी दशा प्रगट हो वह धर्म है। देव-गुरु-शास्त्रके आश्रयसे जो सम्यक्त्व माने, शास्त्रके आश्रयसे ज्ञान माने और व्रतादि शुभरागके आश्रयसे चारित्र माने—वह जीव अपने स्वभावको नहीं मानता, लेकिन परावलम्बनको मानता है; वह जीव परावलम्बन छोड़कर स्वभावका

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

अवलम्बन नहीं करता, अर्थात् स्वभावकी श्रद्धा–ज्ञान और उसमें स्थिरता नहीं करता और उसे वीतरागता या केवलज्ञान नहीं होता, धर्मका अंश भी नहीं होता। किसी अन्य वस्तुकी उपस्थितिसे जो अपनेको सुखी मानता है वह अपने स्वभावमें सुखका स्वीकार नहीं करता, इससे उसे कभी स्वभावका सच्चा सुख प्रगट नहीं होता। धर्मात्मा जानते हैं कि त्रिकाली चैतन्यसत्ताके आश्रित मेरा सुख है, उसमें किसी अन्यके अवलम्बनकी आवश्यक्ता नहीं है–इससे वे ही अपने आत्माकी चैतन्यसत्ताके आधारसे सच्चे सुखका अनुभव करता है।

(६२) राग-द्वेषके समय भी धर्मीको धर्म होता है

धर्मी जीवको राग-द्वेष हो उस समय भी भान होता है कि यह राग-द्वेषकी उत्पत्ति चैतन्यके आश्रयसे नहीं है, किन्तु परके आश्रयसे है। चैतन्यके आश्रयमें सम्पूर्णतया नहीं रहा जा सका इसलिये राग-द्वेष हुआ है। उस समय भी मेरा ज्ञान उस रागके अवलम्बनसे नहीं जानता। मैं स्वभावका अवलम्बन रखकर रागका ज्ञाता हूँ; परन्तु रागका अवलम्बन करके उसका ज्ञाता नहीं हूँ। आदि-अंत रहित ज्ञानस्वभावका अवलम्बन करनेसे ज्ञान और सुख है—ऐसी सम्यक्श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान होनेपर भी धर्मीको जो राग-द्वेष हो जाता है वह चारित्रदोष है। धर्मीको उस दोषका अवलम्बन नहीं है, किन्तु दोषरहित चैतन्यस्वभावका अवलम्बन है, इससे उसे प्रतिक्षण शुद्धता होती जाती है और दोष दूर होता जाता है। इसप्रकार राग-द्वेषके समय भी स्वभावके अवलम्बनसे धर्म होता है।

(६३) अधर्म और धर्म कैसे होते हैं?

अज्ञानी जीव त्रिकाली चैतन्यतत्त्वकी सत्ताको भूलकर प्रतिक्षण पराधीनतासे दब रहा है–वह अधर्म है यदि त्रिकाली आत्मद्रव्यको

स्वतंत्र स्वीकार करे तो उस त्रिकालीके वर्तमानको भी स्वतंत्र स्वीकार करे, इससे पर्यायमें भी परका अवलम्बन न माने और स्वद्रव्यका आश्रय करके शुद्धता प्रगट करे। शरीरादिसे आत्मा पृथक् है—ऐसा माने तो, शरीरकी दशा उसके अपने कारणसे है और अपनी दशा अपने कारण है—ऐसा स्वीकार करे, इससे स्वाधीन श्रद्धा-ज्ञान प्रगट होकर स्थिरता द्वारा वीतरागता और केवलज्ञान हो और भवभ्रमण दूर हो जाये। इसमें धर्मके प्रारम्भसे लेकर पूर्णता तककी सारी बात आ गई; और अधर्म कैसे होता है–वह भी आ गया।

(६४) स्व-परके भेदविज्ञानसे धर्म और एकत्वबुद्धिसे महा अधर्म

आत्मा और परवस्तु भिन्न हैं, इससे उन भिन्न वस्तुओंके कारण आत्माके श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र नहीं हैं—ऐसा यथार्थ निर्णय करनेवाला जीव परावलम्बन छोड़कर स्वाश्रय करता है। फिर पर्याय पर्यायमें स्वावलम्बनसे श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता प्रगट करता रहता है और परावलम्बन तोड़ता जाता है–ऐसी आत्मदशाका नाम धर्म है। जो जीव स्वावलम्बन नहीं करता और परावलम्बन नहीं छोड़ता उसने वास्तवमें स्व और परको पृथक् नहीं जाना है, किन्तु एक माना है–वह महा अधर्म है।

(६५) समझनेके लिये उत्साह

यदि आत्मा रुचिपूर्वक समझना चाहे तो यह बात बिलकुल सरल है। आत्माकी समझमें आने योग्य है। आत्मा स्वयं जैसा है उसकी यह बात है। आत्माकी बात किसकी समझमें नहीं आती? सभी आत्माओंकी समझमें आ सकती है। आत्माका स्वभाव ही ज्ञाता है, इससे जो आत्मा हो उसमें सब कुछ समझनेकी शक्ति है। जड़में

ज्ञान नहीं है इससे जड़की समझमें कुछ नहीं आता। इस बातको सुननेके लिये कहीं जड़ नहीं बैठे हैं, जड़को समझनेके लिये यह बात नहीं हो रही है, किन्तु जड़से भिन्न ज्ञानतत्त्व है उसे समझनेके लिये यह बात है।

(६६) विश्वके जड़ और चेतन प्रत्येक पदार्थके स्वभावकी स्वतंत्रता और परिपूर्णता

जिस प्रकार मैं आत्मा अपने चैतन्यस्वभावसे परिपूर्ण हूँ, इससे मेरे चैतन्यको परकी अपेक्षा नहीं है; उसीप्रकार पुद्गल द्रव्य अपने रूप-स्वभावसे परिपूर्ण है, उसे दूसरेकी अपेक्षा नहीं है। रूप अपने रूपस्वभावसे परिपूर्ण है और मेरे चैतन्यत्वका उसमें अभाव है। मैं अपने ज्ञानस्वभावसे परिपूर्ण हूँ और रूपसे शून्य हूँ। परमाणु पदार्थ अपने रूपादि स्वभावसे परिपूर्ण है; यदि ज्ञान उसे बदलना चाहे तो नहीं बदल सकता। उसके त्रिकाली स्वभावका वर्तमान उसके अपने आधारसे स्वतंत्र है, उसका वह वर्तमान अंश दूसरेका अवलन्बन नहीं करता। काली अवस्थामेंसे सफेद अवस्था होनेके लिये वह पुद्गल द्रव्य अपनी परिपूर्ण शक्तिवाला है, उसे बदलनेके लिये ज्ञानकी आवश्यक्ता नहीं है। आत्मा उपस्थित हो तभी वह बदले, नहीं तो नहीं–ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। एक परमाणुको काली अवस्थामेंसे सफेद अवस्थारूप अनंत आत्मा एकत्रित होकर भी नहीं बदल सकते। उनकी अवस्था उसके स्वभावसे क्रमबद्ध होती रहती है; क्योंकि वह अपने रूपादि स्वभावसे परिपूर्ण है; वह अपने परिपूर्ण समर्थ्यको धारण करनेवाला है, और आत्माके ज्ञानका उसमें बिल्कुल अभाव है। पुद्गलमें रूपादि स्वभावसामर्थ्यसे पूर्णता है, परन्तु उसके अवलम्बनसे आत्माको श्रद्धा–ज्ञानादि हों ऐसा कोई सामर्थ्य उसमें नहीं है। पुद्गलमें ऐसा स्वभाव ही नहीं है कि वह (पुद्गल) आत्माके ज्ञानका या

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ-३६४२५०

आनंदका कारण हो। और जीव अपने चैतन्यसमर्थ्यसे परिपूर्ण तथा अचेतनत्वसे रहित है। जीवका ऐसा स्वभाव नहीं है कि उसे अपने ज्ञान और आनंदके लिये परका अवलम्बन लेना पड़े ! अहो, सारा जगत स्वतंत्र और परिपूर्ण है; जड़ और चेतन प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभावसे परिपूर्ण हैं। इसमें तो वीतरागता और सर्वज्ञता ही आ जाती है। ऐसे स्वतंत्र वस्तुस्वभावको न मानकर—'आत्माके कारण परकी क्रिया होती है और परवस्तुके अवलम्बनसे आत्माको श्रद्धा-ज्ञान-आनन्द होते हैं'—ऐसी मान्यता वह मिथ्यात्व है, भ्रम है, वही संसार है, वही अधर्म है, और वही महापाप है।

(६७) आत्माका सम्यग्ज्ञान

आत्मा सत् पदार्थ है। 'है' अर्थात् वह भूतकालमें नहीं हुआ है; 'है' अर्थात् भविष्यमें वह नाशको प्राप्त नहीं होता; और 'है' अर्थात् वर्तमानमें विद्यमान है। आत्मा संयोग रहित अनादि-अनन्त वस्तु है, उस वस्तुकी ज्ञानके साथ एकता है और रूपादिसे पृथक्त्व है। आत्मा चैतन्यरूपसे भरा हुआ और परके रूपसे शून्य है; परसे भिन्नत्व कहते ही स्वयंसे पूर्णता है—ऐसा आ जाता है। यदि वस्तु स्वयं अपूर्ण हो तो उसे परका संबंध हो। परके सम्बन्धसे यदि आत्माको लक्ष्यमें लिया जाये तो उसका यथार्थ पूर्ण स्वभाव ज्ञात नहीं होता। परके सम्बन्ध बिना ही आत्माका स्वभाव परिपूर्ण है, वह वर्तमान भी स्वतंत्र है; इससे ज्ञानको परका आश्रय नहीं है किन्तु स्वभावका ही आश्रय है। सम्यग्ज्ञानके लिये परकी ओर नहीं ताकना पड़ता, किन्तु अपने स्वभावको जाननेसे सम्यग्ज्ञान होता है।

(६८) आत्माको परसे भिन्न माननेवाला जीव कैसा होता है ?

जो ज्ञानको परका आश्रय माने उसने आत्माको परसे भिन्न नहीं

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

माना है। परसे भिन्नत्वकी श्रद्धा करनेके पश्चात् ज्ञानीको अस्थिरताके कारण परोन्मुखता होती है; लेकिन उस समय भी वह परसे और उस ओरके झुकावसे पृथक् रहकर स्वभावके ही आश्रयसे परिणमित होता है। परोन्मुखता होती है उसे जानता है, परन्तु उसका आश्रय नहीं मानता–यह साधकदशा है।

(६९) धर्म कैसे और कहाँ होता है?

धर्म अर्थात् आत्माकी पवित्रदशा। वह पवित्रदशा कैसे होती है? आत्माकी उस दशाके लिये अन्य–शरीरादि पदार्थ तो काम नहीं आते और पूर्वकी अवस्था भी काम नहीं आती, किन्तु वर्तमानमें त्रिकाली स्वभावका पूर्ण स्वरूपसे अस्तित्व है उसका स्वीकार करके उसकी पूर्णताके अवलम्बनसे पवित्रदशा प्रगट होती है और राग-द्वेष दुःख दूर हो जाते हैं। ऐसी आत्माकी दशा वह धर्म है। इसके अतिरिक्त शरीरकी किसी दशामें या रागमें धर्म नहीं है।

(७०) स्व-परका भिन्नत्व

'मैं आत्मा हूँ'—ऐसा कहते ही–आत्माके अतिरिक्त अन्य पदार्थ हैं लेकिन वह मैं नहीं हूँ अर्थात् मैं परसे पृथक् हूँ–ऐसा उसमें आ ही जाता है। यदि त्रिकाली वस्तुओंका अस्तित्व पृथक् पृथक् ही है, तो उन त्रिकालीकी वर्तमान अवस्थाएँ भी पृथक् पृथक् ही हैं, किसीको एक दूसरेकी आवश्यक्ता नहीं है। इस प्रकर जो स्वीकार नहीं करता उसने वस्तुओंको ही भिन्न भिन्न नहीं माना है।

(७१) 'मैं परका करता हूँ'—इस मान्यतामें स्व-परकी हत्या होती है

'मैं बाह्यका कुछ करता हूँ'—इस मान्यतामें स्व और पर–

दोनों वस्तुओंके स्वभावकी हत्या होती है। 'मैं परका करूँ' उसका अर्थ यह हुआ कि पर वस्तुएँ तो स्वतंत्र सत् पदार्थ ही न हों ! और 'मैं परका करूँ' यानी मेरा अस्तित्व परमें ही हो ! ऐसी मान्यतावाला जीव कभी परावलम्बनसे नहीं छूटता और कभी परसे भिन्न आत्मस्वभावकी रुचि–श्रद्धा नहीं करता। आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई ! तू अपने ज्ञानस्वरूपको परसे बिलकुल भिन्न जान और परमें अहंकारको छोड़ ! शरीर बिगड़ जाये तो उसे सुधारनेकी कल्पना करता है, परन्तु जीवकी कल्पना शरीरमें नहीं चलती–अर्थात् वह कल्पना व्यर्थ जाती है। इसलिये शरीर और उस ओरकी होनेवाली कल्पनाएँ—दोनोंसे तेरा स्वरूप पृथक् है, उनके आश्रयसे तेरा ज्ञान नहीं जानता; लेकिन ज्ञानसे परिपूर्ण अपने अखण्ड चैतन्यस्वभावका आश्रय करके ज्ञान जानता है;—ऐसे ज्ञानस्वभावकी श्रद्धा-ज्ञान करना–वह अपूर्व आत्मधर्म है।

(७२) परसे भिन्न आत्माको न जाने तबतक सामायिकादि किसी भी प्रकारका धर्म नहीं होता

स्वयं अपने आत्माको यथावत् न जाने और आत्मस्वभावकी महिमा न आये, तबतक समभावरूप सामायिक कहाँसे होगी? मिथ्यात्वादि पापोंसे विमुख होनेरूप प्रतिक्रमण भी किसका होगा? और पर भावोंके त्यागरूप प्रत्याख्यान भी कैसे होगा? अपने चैतन्यस्वभावको न जानकर परके साथ आत्माकी एकता माने वह जीव कभी परके सम्बन्धसे पृथक् होकर स्वभावमें नहीं आता; अर्थात् उसे मुक्ति नहीं होती, और न किसी प्रकारका धर्म ही उसे होता है।

(७३) ज्ञान और ज्ञेयका स्वतंत्र परिणमन

ज्ञानका स्वभाव पदार्थोंको यथावत् जाननेका है। सम्मुख जैसा

पदार्थ हो वैसा ही ज्ञान जानता है, लेकिन वहाँ सामनेवाला पदार्थके कारण ज्ञान नहीं होता। ज्ञान अपनी शक्तिसे ही अपनी योग्यतानुसार जानता है। ज्ञानका स्वभाव विपरीत नहीं जानता, किन्तु यथावत् जाननेका ही उसका स्वभाव है।

देखो, इस समय घड़ीमें 'नौं में दस मिनिट कम' हुये हैं; ज्ञान भी वैसा ही जानता है; वाणी परिणमित हो तो वह भी 'नौ में दस मिनिट कम हुये'—ऐसी परिणमित होती है, और उस वाणीको सुनकर सामनेवाले जीवको भी वैसा ही ज्ञान होता है। वहाँ घड़ीका परिणमन स्वतंत्र है, वाणी स्वतंत्र है और सामनेवाले जीवका ज्ञान भी स्वतंत्र है। सारा विश्व स्वतंत्रतया परिवर्तित हो रहा है। अनेक पदार्थोंकी क्रिया एक कालमें होने पर भी प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है।

(७४) अनेक पदार्थोंके अस्तित्वका एक काल होने पर एक दूसरेका कोई सम्बन्ध नहीं है

भिन्न–भिन्न पदार्थोंकी क्रियाएँ एक ही कालमें होती हैं; वहाँ वस्तुके पृथक् स्वभावको न देखनेवाला अज्ञानी जीव, एक दूसरे पदार्थोंको कर्ताकर्मपनेका मेल मान लेता है। लेकिन पृथक् पदार्थोंका मेल कैसा ? एक कालमें दो पदार्थोंका कार्य हो तो उससे क्या ? इस जगतमें ऐसा कौनसा काल है कि जिस कालमें छहों द्रव्योंका कार्य न होता हो ? आत्मा और परमाणु अनादिकालसे एक स्थानमें रह रहे हैं, एक ही कालमें दोनोंका अस्तित्व है। दो पदार्थोंके अस्तित्वका एक काल हो तो उससे कहीं उन पदार्थोंकी एकता नहीं हो जाती। प्रत्येक पदार्थका स्वतंत्र अस्तित्व है और अपने अपने स्वकालमें ही प्रत्येक पदार्थ परिणमित होता है। त्रिकाली द्रव्यका आश्रय करके सत्की स्वतंत्रता अज्ञानीको भासित नहीं होती और वह स्व-परका संबंध मानता

है–एकत्व मानता है; इससे परसे भिन्न स्वभावका उसे आश्रय नहीं होता और मुक्ति या मुक्तिका उपाय उसे नहीं मिलता। जो जीव यथार्थतया स्व-परके भिन्नत्वको जानता है वह जीव पराश्रय छोड़कर स्वाश्रय करता है और स्वाश्रयसे केवलज्ञान होनेसे वह समस्त पदार्थोंको एक ही साथ प्रत्यक्ष जानता है; परन्तु उसके राग-द्वेष नहीं होते। पहले जब राग-द्वेषमें रुकता था तब ज्ञान पूर्ण नहीं जानता था, अब स्वभावमें लीन हुआ ज्ञान पूर्ण जानता है और राग-द्वेषमें नहीं रुकता, तथा उस ज्ञानमें किंचित् दुःख नहीं है।

(७५) स्वतंत्र वस्तुस्वभाव

ज्ञान अपने ज्ञानस्वभावसे पूर्ण है और रूप उसके रूपस्वभावसे। दूसरे अनन्त पदार्थ उन्हें अन्यथा बदलना चाहें तो भी नहीं बदल सकते; क्योंकि वस्तुस्वभाव स्वतः ही पूर्ण है; उस पर दूसरोंकी सत्ता नहीं चल सकती। रूप है वह परमाणुका स्वभाव है, उस रूपको बदलकर उसे रस आदि रूप करनेकी किसीकी शक्ति नहीं है। जो जीव परको बदलना मानता है, वह जीव कहीं पर को नहीं बदल सकता, लेकिन विपरीत अभिप्रायसे पराश्रयसे स्वयं दुःखी होता है।

(७६) वर्तमान अंशको स्वतंत्र जाननेसे धर्म होता है

आत्मा अपने ज्ञान-सुख इत्यादि अनंत स्वभावसे पूर्ण है; उसका वर्तमान अंश भी स्वतंत्र है। वह अंश त्रिकाली द्रव्यके अवलम्बन बिना कहीं अधरसे नहीं होता। इससे वास्तवमें जिसने वर्तमान अंशको स्वतंत्र माना है उसकी दृष्टि अंशी पर जाती है, त्रिकाली द्रव्यकी श्रद्धा हुई कि मेरी श्रद्धा ज्ञानादि सर्व अवस्थाएँ इस द्रव्यके आधारसे हैं–वहाँ सम्यग्श्रद्धा और सम्यग्ज्ञानरूप धर्म हुआ।

(७७) प्रत्येक समयकी ज्ञानकी योग्यता

प्रश्न :—बधिर मनुष्य दूर बैठा हो तो वह सुन नहीं सकता, और निकट बैठा हो तो सुन सकता है; इसलिये वाणीके अवलम्बनसे ही ज्ञान हुआ न ?

उत्तर :—ऐसा नहीं है; ज्ञानकी योग्यतानुसार ही ज्ञान होता है। दूर या निकट होनेसे क्या ? ज्ञान तो कहीं वाणीमें चला नहीं जाता; वह तो अपने समयमें रहकर ही काम करता है। दूर है उस समयका ज्ञानका समय (ज्ञानकी पर्याय) भिन्न है, और निकट है उस समयका ज्ञानका समय भिन्न है,–दोनों समयका ज्ञानका समय अपने अपने समयमें पृथक् पृथक् कार्य करता है। दूर होनेके समय ज्ञानकी योग्यता वैसी वाणीको जाननेकी नहीं थी लेकिन दूसरा कुछ जाननेकी थी; और निकट होनेका समय वैसा जाननेकी योग्यता थी। प्रत्येक समयकी ज्ञानकी स्वतंत्र योग्यताके अनुसार ही ज्ञान होता है। त्रिकाली ज्ञानस्वभावकी श्रद्धाके बिना प्रत्येक समयकी स्वतंत्रताकी श्रद्धा नहीं होती। ज्ञानकी भिन्न-भिन्न योग्यतके अनुसार ज्ञेयोंका संयोग भी भिन्न-भिन्न प्रकारका होता है; वहाँ परसंयोगकी उपस्थितिके कारण ज्ञान होता है–ऐसा जो मानता है वह जीव अपने स्वतंत्र ज्ञानसामर्थ्यकी हत्या करता है। उसी प्रकार पदार्थोंकी अवस्था उन उन पदार्थोंकी योग्यतानुसार होती है, उस समय अपनी उपस्थिति होती है इससे—'मेरे कारण यह कार्य हुआ'—ऐसा माननेवाला भी अज्ञानी है।

(७८) जड़की अवस्था मैं करता हूँ–ऐसा माननेवालेने वस्तुको ही सत् नहीं माना है।

जिसप्रकार त्रिकाली द्रव्य स्वतंत्र है, उसका कोई कर्ता नहीं है; वैसे ही उसकी पर्यायें भी स्वतंत्र हैं, उनका कोई कर्ता नहीं है। कोई

कहे कि 'परमाणु द्रव्य तो स्वतंत्र है, वह किसीने बनाया नहीं है, परन्तु उसकी अवस्था मेरे कारण होती है, जैसी अवस्था मैं करूँ वैसी होती है'—तो ऐसा माननेवाले जीवने परमाणु द्रव्यको ही स्वतंत्र नहीं माना है। क्योंकि, द्रव्य क्या अपनी अवस्थारहित होता है कि दूसरा उसकी अवस्था करे? पर वस्तुके द्रव्य-गुणोंको तो मैं नहीं कर सकता, लेकिन पर्यायको कर सकता हूँ—ऐसा जिसने माना है उसने द्रव्य-गुणोंको पर्यायरहित ही माना है, अर्थात् वास्तवमें द्रव्य-गुणको ही नहीं माना है। यदि द्रव्य-गुणको स्वतंत्र जाने तो उनकी पर्यायोंको भी उनके आधारसे स्वतंत्र ही मानेगा। अपने स्वभावके आधारसे मेरा ज्ञान प्रति समय होता है–ऐसा स्वीकार करनेवाला ज्ञान त्रिकाली द्रव्यके साथ अभेद होता है। ज्ञेय पदार्थोंकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंके कारण मेरे ज्ञानकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ नहीं होती; लेकिन त्रिकाल ज्ञानस्वभावके आधारसे ही मेरी अवस्थाएँ होती हैं–इस प्रकार परके अवलम्बनको छोड़कर अपने स्वभावके अवलम्बनसे श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता करनेसे धर्म होता है और ऐसे अवलम्बनमें ही सम्पूर्ण सत्की–आत्माकी स्वीकृति है।

इस प्रकार आत्माके ज्ञानस्वभावको रूपसे स्पष्टतया भिन्न बतलाया। अब वर्णसे भिन्नत्वका वर्णन करेंगे।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ-३६४२५०

[४]

(वीर सं. २४७४, भाद्रपद कृष्णा-१४, गुरुवार)

(७९) सुख कहाँ है और कैसे होता है?

जो आत्माका सच्चा सुख चाहता है उसे क्या करना चाहिये? कौन-सी क्रिया करनेसे सच्चा सुख होता है? यह बात यहाँ चल रही है। सुख प्राप्त करनेके जिज्ञासु जीवको पहले यह निर्णय करना चाहिये कि सुख कहाँ है? आत्माके अतिरिक्त किन्हीं दूसरे पदार्थोंमें आत्माका सुख नहीं है। शरीरादि सब पर पदार्थ इस आत्मासे शून्य हैं और आत्मामें उनका अभाव है; तब फिर जहाँ इस आत्माका अस्तित्व नहीं है वहाँसे आत्माका सुख नहीं आता। जहाँ सुख हो वहाँसे वह प्रगट होता है जहाँ उसका अभाव है वहाँसे नहीं आता। आत्मा अपने ज्ञान और सुखस्वभावसे परिपूर्ण है, पुण्य-पाप अथवा अन्य पर वस्तुओंसे शून्य है, इससे उनमें ज्ञान या सुख नहीं है।

आत्मा परसे शून्य है–ऐसा कहनेसे कहीं आत्माका सर्वथा अभाव नहीं होता, क्योंकि वह अपने स्वभावसे परिपूर्ण है। कोई वस्तु स्वयं अपने स्वभावसे शून्य नहीं होती, और कभी एक वस्तुमें दूसरी वस्तुका प्रवेश नहीं होता। प्रत्येक वस्तु अपने स्वभावसे पूर्ण है। आत्मा स्वतः ज्ञाता-दृष्टा-श्रद्धा-सुख-चारित्र-वीर्य इत्यादि अनंत शक्तियोंसे भरपूर है,—ऐसे आत्मस्वभावकी श्रद्धा और स्थिरता करनेसे आत्मासे स्वयं ही सुखरूप परिणमित होता है, आत्मामेंसे ही सुख प्रवाहित होता है। आत्मामें ही परिपूर्ण सुख है, परमें कहीं भी सुख नहीं है और न पर पदार्थ सुखके साधन ही हैं—ऐसा निर्णय करे तो पर पदार्थोंमेंसे सुखबुद्धि दूर हो और जिसमेंसे सुख झरता है ऐसे आत्मद्रव्यका लक्ष्य हो, तथा उसके आश्रयसे सुखका अनुभव हो। लेकिन जिसे शरीर-

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

पैसा-स्त्री आदि पदार्थोंमें ही सुखका आभास होता हो वह जीव वहाँसे हटकर आत्मस्वभावोन्मुख होनेका प्रयत्न नहीं करता, और न उसे सच्चा सुख प्रगट होता है।

(८०) स्वभावकी एकताके आश्रयसे सुख है और संयोगकी एकताके आश्रयसे दुःख है।

आत्मा अनंत गुणोंका पिण्ड एक असंयोगी वस्तु है और बाह्यके संयोग तो अनेक प्रकारके हैं। उसमें स्वभावकी एकताके आश्रयसे रागादि दुःख दूर होते हैं और संयोगोंकी अनेकताके आश्रयसे रागादि दुःख होते हैं। इसलिये जिन्हें सुखकी आवश्यक्ता हो उन्हें अपने स्वभावका ही आश्रय करना योग्य है। अनेक प्रकारके संयोगोंका आश्रय करनेसे दृष्टिमें अनेकता होती है और उससे आकुलता ही उत्पन्न होती है। बाह्यमें अनेक प्रकारके संयोग होने पर भी उनसे भिन्न अपने एक स्वभावका आश्रय करे तो अनंतगुणोंसे भरपूर अपने स्वभावके आश्रयसे सुख होता है। आत्मद्रव्यके लक्ष्यसे एकाग्रता करनेसे परके साथकी एकत्वबुद्धि दूर हो जाती है और अज्ञान दूर होनेसे सम्यग्ज्ञान होता है; वही धर्म है और वही सुख है।

शरीर-मन-वाणी-स्त्री-पुत्र-लक्ष्मी या देव-शास्त्र-गुरु इत्यादि संयोग अनेक प्रकारके हैं; वे सदैव एक समान नहीं रहते, इसलिये उनका आश्रय करनेसे ज्ञान स्थिर नहीं होता, इससे उनके आश्रयसे आत्माको सुख नहीं होता। आत्माका असंयोगी चैतन्यस्वभाव है वह नित्य एकरूप रहता है, उसकी रुचि और विश्वास करके उसका आश्रय करे तो उसमें ज्ञान स्थिर होकर आनंद प्रगट होता है।

आत्मा अनादि-अनंत एकरूप स्थायी रहने वाला द्रव्य है और प्रतिक्षण उसकी नवीन-नवीन अवस्थाएँ होती रहती हैं। वह वर्तमान

अवस्था यदि संयोगकी रुचि करे तो अनेक प्रकारके संयोगोंके आश्रयसे अनेक प्रकारका विकार ही होता है; और यदि वर्तमान अवस्था त्रिकाली एकरूप द्रव्यका आश्रय करे तो द्रव्यपर्यायकी एकता होती है और शुद्धता ही प्रगट होती है।

स्वभाव एक है और पर पदार्थ अनेक हैं। वर्तमान श्रद्धामें–रुचिमें अनेक पर पदार्थोंका आश्रय करे तो एकरूप स्वभावका अनादर होता है और विकारका आदर होता है। अनेक प्रकारके संयोगोंके कारण वैसा ज्ञान नहीं होता, किन्तु ज्ञानकी ही वैसी योग्यता होनेसे ज्ञान उन्हें जानता है। लेकिन अज्ञानी जीव अपने एकरूप स्वभावको न जानते होनेसे, अनेक ज्ञेयोंके बदलनेसे उनके कारण मेरा ज्ञान बदला है—ऐसा मानते हैं, इससे वे स्वको भूलकर परको जाननेमें और उसमें हर्ष-शोक माननेमें ही रुक जाते हैं। ज्ञानस्वभावके आश्रयसे एकसाथ सभी पदार्थोंको जाननेका अपना स्वभाव है, उसकी जिन्हें खबर नहीं है वे पर पदार्थोंसे ज्ञान मानते हैं; ज्ञेयोंके कारण ज्ञान मानता होनेसे उन्हें अनेक परको जाननेका हर्ष होता है, अनेक पदार्थोंको जान लूँ तो सुख हो—ऐसा वे मानते हैं; इससे वे जीव ज्ञेयोंके साथ एकत्वबुद्धि करते हैं, ज्ञेयोंका आश्रय छोड़कर ज्ञानस्वभावका आश्रय वे नहीं करते। एकरूप ज्ञानस्वभावके आश्रय बिना कभी सच्चा सुख नहीं होता। संयोगोंके आश्रयसे तो मिथ्यात्व, अज्ञान और पुण्य-पापरूप विकारी क्रिया होती है वह अधर्म है–दुःख है।

(८१) आत्माका मूल स्वरूप क्या है? और वह कैसे जाना जाये?

जिस प्रकार पानीका मूल स्वभाव ठंडा है, किन्तु अपनेसे विरुद्ध ऐसी अग्निका आश्रय करे तो वह उष्ण दशारूप होता है; उसी प्रकार आत्माका ज्ञानस्वभाव शीतल–आनंदमय है, किन्तु यदि उस

स्वभावका आश्रय छोड़कर पर संयोगके आश्रयसे परिणमन करे तो अवस्थामें पुण्य-पापादि विकार होते हैं। जिस प्रकार उष्णता पानीका यथार्थ स्वरूप नहीं है उसीप्रकार विकारी भाव भी आत्माका सच्चा स्वरूप नहीं है। उष्णताके समय भी पानीका शीतल स्वभाव है; वह स्वभाव पानीमें हाथ डुबोनेसे ज्ञात नहीं होता, आँखसे दिखाई नहीं देता, कान-नाक अथवा जीभसे अनुभवमें नहीं आता परंतु ज्ञान द्वारा ही ज्ञात होता है। उसी प्रकार विकारके समय आत्माका त्रिकाली शुद्ध स्वभाव है, वह किसी बाह्य क्रियासे या रागसे ज्ञात नहीं होता परंतु अंतरस्वभावोन्मुख होनेसे, ज्ञानसे ही ज्ञात होता है। विकारके लक्ष्यसे विकार दूर नहीं होता, लेकिन विकारका लक्ष्य छोड़कर त्रिकाली वीतरागस्वरूप निज चैतन्यस्वभावका आश्रय करनेसे विकार दूर हो जाता है। इसलिये ज्ञान-आनंदस्वरूप अपने आत्माकी श्रद्धा करना ही प्रथम धर्म है।

उष्णता पानीका स्वभाव नहीं है; पानीका स्वभाव तो उष्णताको मिटानेका है। उसी प्रकार आत्माका स्वभाव विकारका कर्ता नहीं किन्तु उसे दूर करनेका है। विकारी भावोंसे होनेवाले इस संसारके भवभ्रमणका ताप दूर करनेके लिये शांत चैतन्यस्वरूपमें ढलना चाहिये। मैं एक चैतन्य हूँ और यह सब संयोग मुझसे पृथक् है; संयोगके लक्ष्यसे जो भाव होते हैं वह विकार है, वह भी मेरा स्वरूप नहीं है; मेरा स्वरूप तो ज्ञाता-दृष्टा और आनंदका अनुभव करना ही है। इस प्रकार चैतन्यस्वरूपको समझना वह धर्म है। स्वभावको समझकर उसमें स्थिर होनेसे अज्ञान और विभाव दूर हो जाते हैं। त्रिकालमें धर्मकी एक ही रीति है। आत्मस्वभावके अतिरिक्त अरिहंत या सिद्ध भगवान आदि किसी भी परवस्तुके आश्रयसे धर्म समझमें नहीं आता, किन्तु विकार और दुःख ही होता है। तीनों कालमें अपने

एकरूप स्वभावके आश्रयसे ही धर्म समझमें आता है।

(८२) आत्माका तैरनेका स्वभाव कैसे ज्ञात होता है?

लकड़ीका स्वभाव पानीमें तैरनेका है; उसका वह स्वभाव किस प्रकार ज्ञात होता है? लकड़ीके टुकड़े कर डाले तो उसका तैरनेका स्वभाव दिखाई नहीं देगा, क्योंकि वह आंखोंसे दिखाई नहीं देता; लकड़ीको मुँहमें ड़ालकर चबाये या अग्निमें जलाये तो भी उसका स्वभाव ज्ञात नहीं होगा; उसे घिसकर शरीर पर लगाये तो भी उसका वह स्वभाव ज्ञात नहीं होगा। इस प्रकार किसी भी इन्द्रिय द्वारा लकड़ीका स्वभाव ज्ञात नहीं होता, किन्तु अपने ज्ञानको बढ़ानेसे ही लकड़ीका स्वभाव ज्ञात होता है। अथवा पानीमें लकड़ी पड़ी हो तो वह तैरती है–ऐसा देखकर भी उसके स्वभावका निर्णय किया जा सकता है। लकड़ीकी भांति यह चैतन्यमूर्ति आत्मा ज्ञाता-दृष्टा स्वभाववाला है, उसका स्वभाव भी तैरनेका है, उसका ज्ञानस्वभाव विकारमें नहीं डूबता, किन्तु विकारसे पृथक्का पृथक् रहता है अर्थात् तैरता है। चैतन्यका स्वभाव रागादिसे एकमेक हो जानेका नहीं है, किन्तु पृथक् रहनेका है। वह आत्मस्वभाव किस प्रकार ज्ञात होता है? किसी पर के सम्मुख देखनेसे या विकारसे अथवा इन्द्रियज्ञानसे वह ज्ञात नहीं होता। आत्मस्वभावको जाननेका एक ही उपाय है कि त्रिकाली आत्मस्वभावकी ओर अपने ज्ञानको बढ़ाना। ज्ञान अपने स्वभावकी ओर उन्मुख करके स्वभावको देखे तभी आत्माका तैरनेका स्वभाव ज्ञात होता है।

जैसे, लकड़ीका छोटा-सा टुकड़ा हो या बड़ा भारी पाँचसौ मनका लक्कड़ हो, लेकिन दोनोंका तैरनेका स्वभाव है; उसे जाननेकी एकही रीति है कि उसे पानीमें डालना; और गर्म पानीका शीतल

स्वभाव जाननेकी एक ही रीति है कि उसे ठंडा करना। लेकिन यदि गर्म पानीमें गहरे तक हाथ ड़ाले तो कहीं उसकी शीतलता ज्ञात नहीं होगी। यह दोनों दृष्टांत हैं। उसीप्रकार आत्माका ज्ञानस्वभाव है, वह विकारमें नहीं डूबता, किन्तु उससे पृथक्का पृथक् ऊपर ही तैरता है। उस ज्ञानस्वभावको जाननेके लिये वर्तमान पर्यायके सामने देखता रहे तो वह ज्ञात नहीं होगा। जो आत्मस्वभाव है उसमें अपने ज्ञानको ढालनेसे ही वह ज्ञात होता है। बाह्यके अनेक संयोग और पर्यायके क्षणिक विकारको न देखकर अपना असंगस्वभाव चैतन्यसे परिपूर्ण है, उस स्वभावका विश्वास करके ज्ञानको स्वभावमें युक्त करे तभी स्वभाव ज्ञात होता है और सम्यग्ज्ञान होता है। एक प्रकारके स्वभावके आश्रयसे पर्यायें भी एक प्रकारकी (शुद्धरूप) होती हैं, वही धर्म है।

यहाँ आचार्यदेव ज्ञानस्वभावका परसे भिन्नत्व समझाते हैं। परसे ज्ञान पृथक् है इसलिये परके आश्रयसे आत्माका ज्ञान नहीं होता। ज्ञान तो आत्मस्वभावके ही आश्रयसे होता है। आत्माका ज्ञानस्वभाव स्वतः पूर्ण है, उसीके आश्रयसे सम्यग्ज्ञान होता है। रूपसे ज्ञानका पृथक्त्व समझाया। अब, वर्णसे ज्ञानके पृथक्त्वका वर्णन करते हैं।

* वर्णसे ज्ञानका भिन्नत्व *

वर्ण ज्ञान नहीं है, क्योंकि वर्ण पुद्गल द्रव्यका गुण है, अचेतन है; इसलिये ज्ञानको और वर्णको व्यतिरेक है, अर्थात् ज्ञान अन्य है और वर्ण अन्य है।

रूप और वर्ण-दोनों चक्षु इन्द्रियके विषय हैं; परंतु उनमें अन्तर मात्र इतना है कि रूप कहनेसे वस्तुके आकारकी मुख्यता है और वर्ण कहनेसे उसके रंगकी मुख्यता है।

(८३) वर्णसे ज्ञान माने तो अधर्म

वर्ण अर्थात् रंग; लाल, पीला, नीला, काला और सफेद ऐसे पाँच प्रकारके रंग हैं, वे अचेतन पुद्गलके रंगगुणकी पर्यायें हैं। सिरमें काले बाल होते हैं, वहाँ यदि ऐसा माने कि इन बालोंको देखनेसे मुझे उनका ज्ञान हुआ, तो वह जीव अपने ज्ञानस्वभावकी रुचि छोड़कर बालोंकी रुचि करता है, इससे उसे अधर्म होता है। और यदि ऐसा समझे कि काले बालों आदिके अवलम्बनसे मैं नहीं जानता हूँ, तो उस जीवको त्रिकाली ज्ञानस्वभावकी रुचिसे, उसके आश्रयसे सम्यग्ज्ञान होता है और बाल आदि पर वस्तुकी रुचि दूर होती है वह धर्म है।

(८४) शरीरके रूपमें सुख नहीं है, आत्मामें सुख है

शरीरका रंग गोरा हो या काला–वह जड़ है; ज्ञान उससे भिन्न है। शरीर रूपवान हो उसमें आत्माका सुख नहीं है; शरीरका रंग तो अचेतन है, उसमें सुख या ज्ञान मानना वह मिथ्यात्व और अधर्म है। रूप-रंगमें जिसने सुख माना है वह अपना ज्ञान रंगमें युक्त करता है परन्तु आत्मामें युक्त नहीं करता, उसे धर्म नहीं होता। रंग इत्यादि अचेतन हैं और मेरा आत्मा चेतन है, अपने चेतन स्वभावके आश्रयसे ही मेरा ज्ञान और सुख है–इस प्रकार अपनी अवस्थाको त्रिकाली द्रव्यस्वभावमें ढालनेसे ही अवस्थामें सम्यग्ज्ञान और सुख प्रगट होता है। जैसे पानीसे रहित घड़ा हो तो उसमेंसे पानी नहीं टपकता; परन्तु जो घड़ा पानीसे भरा हो उसमेंसे पानी टपकता है; उसी प्रकार सुंदर शरीरादि परवस्तुएँ तो ज्ञान और सुखसे रहित है– अचेतन हैं–आत्मासे भिन्न हैं, उनमेंसे ज्ञान या सुख नहीं टपकता–परिणमित नहीं होता। अपना आत्मा त्रिकाली ज्ञान और सुखस्वभावसे परिपूर्ण है, उसकी रुचि करके उसके अवलम्बनसे परिणमन करनेसे अवस्थामें ज्ञान और सुख

टपकता है–द्रवित होता है। अपने स्वभावमें ज्ञान और सुख भरे हुये हैं, उन्हें न देखे और बाह्यमें देखता रहे तो कभी भी सुख या ज्ञान नहीं होगा।

(८५) ज्ञान यदि आत्माका आश्रय करे तो धर्म है, परका आश्रय करे तो अधर्म है।

आत्माकी जो अवस्था वर्णादि परका आश्रय करे उसमें रागादिके साथ एकता होती है, वह अधर्म है। और यदि एकरूप द्रव्यस्वभावका आश्रय करे तो रागादिके साथ एकता टूटकर स्वभावमें अभेदता होती है–धर्म होती है और अधर्म दूर होता है।

जैसे बाजारमें किसी दुकान पर बड़ा दर्पण लगा हो, और मार्ग परसे आनेवाली सवारी गाड़ियाँ, मनुष्य, कपड़े उसमें दिखाई देते हैं, प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं; तो वहाँ कहीं पर दर्पण पदार्थोंकी ओर नहीं जाता और न पदार्थ उसमें प्रविष्ट हो जाते हैं। उसी प्रकार ज्ञान सामर्थ्य ऐसा है कि उसमें पर वस्तुएँ ज्ञात होती हैं, परन्तु वास्तवमें तो वैसी ज्ञानकी ही योग्यता है, पदार्थोंके कारण ज्ञान नहीं है, और पदार्थ ज्ञानमें प्रविष्ट नहीं हो जाते। ऐसा होने पर भी जो ज्ञान अपने स्वभावका आश्रय न करके वर्णादिका आश्रय करता है वह मिथ्या है, अचेतन है।

(८६) परसे भिन्न ज्ञानस्वभावके अनुभवनका उपाय

वर्ण और ज्ञानका पृथक्त्व है–ऐसा कहते ही, वर्ण, वर्णरूप है–ऐसा सिद्ध होता है। इस जगतमें सब ब्रह्म स्वरूप है—ऐसा नहीं है; और जो भाँति भाँतिके रंग आदि दिखाई देते हैं वे भ्रमरूप नहीं परंतु सत् हैं, जगत्के पदार्थ हैं ! और ज्ञानस्वभावी आत्मा भी स्वतंत्र पदार्थ है। रंग है, इसलिये ज्ञान है–ऐसा नहीं है। ज्ञान आत्माश्रित है और वर्ण पुद्गलाश्रित है—इस प्रकार ज्ञानकी और वर्णकी स्पष्टतया

भिन्नता है। वर्णसे भिन्न ज्ञानस्वभावके अनुभवनका उपाय यह है कि ज्ञानका लक्ष वर्णकी ओर छोड़कर त्रिकाली स्वभावकी रुचि करके उस स्वभावकी ओर उन्मुख करना चाहिये। जो ज्ञान संयोगोंकी ओर ही देखता रहता है वह ज्ञान आत्मस्वभावको नहीं जान सकता; परन्तु सर्व संयोगोंकी ओरसे लक्ष उठाकर एक स्वभावकी ओर ही एकाग्र होनेसे सम्यग्ज्ञान होता है। वास्तवमें तो अपने परिपूर्ण स्वभावको लक्षमें लेकर ज्ञान उसमें स्थिर हो वहाँ बाह्य संयोगोंका लक्ष नहीं छोड़ना पड़ता, किन्तु वह स्वयमेव छूट जाता है।

(८७) कौनसा ज्ञान आत्माको जानता है?

अस्तिस्वभावसे आत्मा ज्ञानसे परिपूर्ण है और नास्तिसे शास्त्रके अक्षर, रूप, रंग आदिसे आत्मा पृथक् है; वर्णादिमें आत्माकी नास्ति है इससे उन वर्णादिके लक्षसे होनेवाला ज्ञान भी वास्तवमें आत्माका स्वरूप नहीं है। आत्माके आश्रयसे जो ज्ञान कार्य करता है उसे आत्माका स्वरूप कहा जाता है। आत्माका स्वभाव आत्माकी रीतिसे– आत्माके लक्षसे समझना चाहे तो समझमें आता है। आत्मा होकर आत्माको समझना चाहे तो वह समझमें आ जाता है; किन्तु अपनेको निर्बल, जड़के आश्रित माने तो आत्मा समझमें नहीं आता। आत्माका जो ज्ञान परलक्षसे कार्य करता है वह ज्ञान आत्मस्वभावके साथ एकता नहीं करता, इससे वह ज्ञान आत्माको नहीं जानता। ज्ञानकी वर्तमान पर्याय अनेक प्रकारके परका आश्रय–लक्ष छोड़कर एकरूप परिपूर्ण चैतन्यस्वरूपका आश्रय करे तो आत्मस्वभावके साथ उसकी एकता होती है, और वह ज्ञान आत्माको यथार्थ जानता है। पश्चात् वह ज्ञान स्वभावके साथ एकता रखकर परको भी यथार्थ जानता है;–यही धर्मकी रीति है; इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार धर्म नहीं होता।

(८८) रुचि करे तो स्वभावको समझ लेना सरल है।

कोई लोग कहते हैं कि–इसमें तो हमें कुछ भी मालूम नहीं पड़ता; कोई बाहरकी बात करो तो मालूम पड़े ! उसका उत्तर :— बाह्य पदार्थोंमें तो आत्मा है ही नहीं। बाह्य पदार्थोंसे तो आत्मा पृथक् है, इससे आत्माके धर्ममें बाह्य बात कैसे आयेगी ? आत्मा बाहरका कुछ भी कर ही नहीं सकता। और बाह्य रुचि होनेसे बाहरका ही दिखाई देता है, उसी प्रकार यदि अंतरस्वभावकी रुचि करे तो वह भी बराबर समझमें आ सकता है। पर वस्तुएँ–शरीरकी क्रियादि दिखाई देती हैं, उन्हें कौन जानता है ? शरीर वाणी इत्यादि तो अजीव पदार्थ हैं उन्हें कुछ मालूम नहीं पड़ता, स्वयं ही उसका ज्ञाता है। 'मुझे इसमें कुछ मालूम नहीं पड़ता'—ऐसा कहाँसे निश्चित किया ? स्वयं अपने ज्ञानको जाने बिना वह निश्चित नहीं होता। स्वयं अपने ज्ञानको जानता है तथापि विश्वास नहीं करता। अपने ज्ञानका और परका निर्णय करनेवाला अपना ज्ञानसामर्थ्य है। अपने ज्ञानसामर्थ्यका अविश्वास ही अधर्म है। परकी खबर भी आत्माको ही पड़ती है, और अपनी खबर भी उसीको होती है।

अज्ञानी-मूढ जीवोंको आत्माकी रुचि नहीं है और विषयोंकी रुचि है इससे उन्हें आत्माको समझना मँहगा–दुःखदायक लगता है और विकार तथा परको करनेकी बात सरल मालूम होती है तथा उसमें सुख भासित होता है। पुण्य करना और उसके फल भोगना, विषय सेवन करना, परका अहंकार करना–यह सब अज्ञानियों को सरल लगता है और रुचिकर प्रतीत होता है, इससे वैसी बातें उनकी समझमें झट आ जाती हैं–क्योंकि वह तो अनादिसंसारसे कर ही रहे हैं ! परंतु इन सबसे भिन्न यह आत्मस्वभावकी अपूर्व समझ है, यह अपने स्वभावकी बात उन्हें नहीं रुचती। स्वभावको समझना ही वास्तवमें सरल और सुखदायक है।

(८९) अपूर्व शांति कैसे हो?

यह आत्मा अनादिकालसे वह का वह ही है; परंतु अनादिकालमें कभी भी उसने अपने स्वाधीन स्वभावकी पहिचान करके उसका आश्रय नहीं किया है और परका ही आश्रय किया है, अतः पराश्रयसे कभी उसे शांति नहीं मिली। आत्माका सुख परमें नहीं है, तो फिर पराश्रयसे आत्माको सुख कैसे होगा? जीवका अपना स्वभाव ज्ञान-आनंदसे परिपूर्ण है, उसका विश्वास करके उसका आश्रय करे तो अपूर्व शांति-सुख हो। जिस प्रकार लकड़ी समुद्रके जलमें तैरती है उसी प्रकार आत्माकी वर्तमान अवस्था त्रिकाली चैतन्यसागरमें गिरनेसे (त्रिकाली चैतन्यका आश्रय करनेसे) तैरती है, अर्थात् मुक्ति प्राप्त करती है।

(९०) ज्ञानको परसे भिन्न जाने तो संसार-परिभ्रमण दूर हो

अनेक प्रकारके परपदार्थोंको जानने पर भी वर्तमान रुचिमें स्वभावका आश्रय रहना वह धर्म है। अनेकको जाननेवाला स्वयं अनेकरूप होकर नहीं जानता, परंतु एकरूप स्वभावका आश्रय रखकर सबको जानता है, ऐसे एकरूप ज्ञानस्वभावका आश्रय ही धर्म है। आत्मा परवस्तुका कुछ नहीं कर सकता। परका ग्रहण-त्याग या अच्छा-बुरा आत्मा नहीं कर सकता, तथापि अज्ञानी जीव परके कर्तृत्वका अभिमान करता है; इससे उसका ज्ञान अनेक प्रकारसे परके आश्रयमें ही रुक जाता है इससे उसे परके साथ एकत्वबुद्धि पूर्वक राग-द्वेष होता है, वह अधर्म है। परकी कर्तृत्वबुद्धि होनेसे परका आश्रय छोड़कर स्वभावका आश्रय नहीं करता। स्वभावके आश्रय बिना दया-दान-भक्ति आदि पुण्यभाव करे तो भी संसार-परिभ्रमण ही होता है। लेकिन मैं परका कुछ भी करनेवाला नहीं हूँ और परके कारण

मेरा ज्ञान नहीं है–इस प्रकार अपने ज्ञानको परसे बिलकुल भिन्न समझे तो परका अहंकार छोड़कर ज्ञानस्वभावकी रुचि करे; उससे धर्म हो और संसारपरिभ्रमण दूर हो।

(९१) सम्यग्ज्ञानका पुरुषार्थ

वर्तमान ज्ञानको चैतन्यतत्त्वकी ओर उन्मुख करके स्वभावको समझना ही सम्यग्ज्ञानका पुरुषार्थ है। बाह्यमें परको जाननेमें ज्ञानका विकास वह वास्तवमें पुरुषार्थ नहीं है। व्यापार, डाक्टरी, वकालत आदि कलाओंमें ज्ञानका जो विकास दिखाई देता है उसमें वास्तवमें वर्तमान पुरुषार्थका कार्य नहीं है, परंतु पूर्वका विकास वर्तमानमें दिखाई देता है। वहाँ बाह्य पदार्थोंके कारण भी ज्ञानका विकास नहीं है। वर्तमानमें पढ़कर फिर पैसा कमानेका भाव पाप है; उस पापभावके कारण ज्ञानका विकास कैसे होगा ? यदि पापसे ज्ञान विकसित होता हो, तो बहुत पाप करनेसे ज्ञान अधिक विकसित होकर केवलज्ञान हो जाये ! परंतु ऐसा नहीं है। वर्तमानमें मेंढ़क आदि को चीरनेके पापपरिणाम हैं उनके कारण कहीं डाक्टरीका ज्ञान विकसित नहीं होता; वह तो पूर्वका विकास दिखाई देता है। और वर्तमानमें जो पापपरिणाम हैं उनके कारण ज्ञानका ह्रास होता जाता है। यहाँ पापपरिणामोंकी तो बात नहीं है, परंतु शुभ परिणाम करके शास्त्रादि पढ़े और ज्ञानका विकास दिखाई दे वह भी वास्तवमें आत्मकल्याणका कारण नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान भी रागके आश्रयसे हुआ है। रागादिके लक्षसे रहित अपने ज्ञानस्वभावके लक्षसे जो ज्ञान विकसित होता है वही सम्यग्ज्ञान है, तथा वही आत्माकी मुक्तिका कारण है।

(९२) जीवकी वर्तमान बुद्धिमानीसे पैसा नहीं मिलता

अपनी वर्तमान चतुराईके कारण मैं पैसादि प्राप्त कर सकता हूँ—

ऐसा अज्ञानी मानता है; परंतु धन प्राप्तिका भाव पाप है उसके कारण धन नहीं आता। धन तो पूर्वके पुण्यके कारण आता है। गायोंको काटनेवाले महा पापी कसाई, यदि प्रतिदिन हजारों रुपये कमाते हैं, तो क्या वह गायें काटनेकी पापबुद्धिका फल है? वर्तमान पापके फलमें तो भविष्यमें नरकके दुःखोंका संयोग होगा। वर्तमानमें जो रुपया मिल रहा है वह पूर्वके पापानुबंधी पुण्यका फल है। हिंसा-झूठ-चोरी आदिके कारण पैसेकी प्राप्ति नहीं होती। और सत्यादि शुभ परिणाम करे उनके कारण भी वर्तमानमें पैसा नहीं मिलता। किसी जीवको वर्तमानमें पुण्यपरिणाम होते हैं लेकिन पूर्व पापके उदयके कारण वर्तमानमें लक्ष्मी आदि संयोग नहीं होते। बाह्यका कोई भी संयोग-वियोग हो उसका कर्ता आत्मा नहीं है, और न उन संयोगोंके कारण ज्ञान होता है। इसलिये जिसे आत्महित करना हो उसे पैसा आदि पर संयोगोंकी और बाह्य ज्ञानकी रुचि छोड़कर असंयोगी आत्मस्वभावकी ही रुचि करके उसकी पहिचान करना चाहिये। यही आत्महितका उपाय है।

(९३) धर्म करनेके लिये किसके सामने देखना?

इस जगतमें अपना ज्ञानस्वभाव है और जगतके अन्य पदार्थ भी हैं। जिसे ज्ञान और आनंद प्रगट करना हो उसे कहाँ देखना? अपने ज्ञानस्वभावको भूलकर यदि परके सन्मुख देखें तो दुःख और अज्ञान ही होते हैं। और अपने ज्ञानस्वभावका ही आश्रय करके पर वस्तुओंका लक्ष छोड़ दे तो स्वाभाविक सुखका अनुभव प्रगट होता है। अपने आत्मस्वभावका ही स्वीकार न करे तो धर्म कहाँ करेगा?

इस जगतमें अकेला आत्मा ही हो और दूसरे पदार्थ न हों तो अकेले आत्मामें भूल नहीं होगी। अकेला आत्मा किसके लक्ष्यसे भूल करेगा? और यदि अकेले आत्माके लक्ष्यसे भूल होती हो तो वह कभी

दूर नहीं हो सकती। आत्माके अतिरिक्त पर पदार्थ हैं, उनका आश्रय करनेसे जीव अपने स्वरूपको भूलता है, इससे दुःख है। आत्मा अपने ज्ञाता–दृष्टा स्वरूपको देखे तो उसमेंसे सुख प्रगट होता है। पहले अपने सुखस्वभावको भूलकर राग-पुण्य-पापादिका आश्रय करनेसे सुख-शांतिका वेदन नहीं होता था; और अब यथार्थ समझपूर्वक अंतरंगस्वभावका आश्रय लेनेसे स्वभावसुखका वेदन होता है,–यही सुखका सच्चा उपाय है। ज्ञानस्वभावका आश्रय करनेके लिये ही यहाँ आचार्यदेवने सर्व पर द्रव्योंसे ज्ञानके स्पष्ट भिन्नत्वका वर्णन किया है। वर्णसे भिन्नत्वका वर्णन पूर्ण हुआ; अब गंधसे ज्ञानके बिलकुल भिन्नत्वका वर्णन करते हैं।

* गंधसे ज्ञानका भिन्नत्व *

गंध ज्ञान नहीं है, क्योंकि गंध पुद्गल द्रव्यका गुण है, अचेतन है; इसलिये ज्ञान और गंधका भिन्नत्व है।

(९४) **जो ज्ञान परके आश्रयसे जाने वह अचेतन है, और जो स्वभावकी एकता पूर्वक जाने वह मोक्षका कारण है।**

गंध अचेतन है, वह कुछ नहीं जानती; उसे अपनी खबर नहीं है। ज्ञान चेतन है वह परिपूर्ण जानता है; स्व–परको जानता है; भिन्न-भिन्न प्रकारकी गंध हो वहाँ ज्ञान अनेकताके आश्रयसे नहीं जानता किन्तु स्वभावकी एकता रखकर जानता है। इसलिये गंधसे ज्ञान नहीं है। जो ज्ञान गंधको जाननेमें स्वभावकी एकता छोड़कर गंधके आश्रयसे जानता है उस ज्ञानको आचार्यदेव अचेतन कहते हैं। ज्ञान अपने ज्ञानस्वभावके आश्रयसे ही प्रगट होता है–स्थायी रहता है और बढ़ता है। गंधके आश्रयसे ज्ञान प्रगट नहीं होता–स्थायी नहीं रहता और बढ़ता नहीं है। इसलिये तू परकी रुचि छोड़कर, स्वसन्मुख होकर

ज्ञानस्वभावकी रुचि कर ! ज्ञान, ज्ञानस्वरूप रहकर परका आश्रय किये बिना स्व-परको जानता है।

पहले ज्ञानकी अल्पदशा होती है और फिर वह बढ़ती है; तो वह अधिक ज्ञान कहाँसे आया ? पर द्रव्य तो अचेतन है, उसके अवलम्बनसे ज्ञान प्रगट नहीं होता; अल्पदशामें से अधिक ज्ञानकी दशा नहीं आई है। अंतरमें द्रव्यस्वभाव ज्ञानसे पूर्ण भरा हुआ है, उसीके आधारसे ज्ञान प्रगट होता है। जिस प्रकार पानीसे भरे हुये घड़ेमें पानी झरता-टपकता है, उसी प्रकार ज्ञानसे भरे हुये आत्मस्वभावमेंसे ही ज्ञानपर्याय प्रगट होती है। चेतनस्वभावका आश्रय छोड़कर यदि परके आश्रयसे ज्ञान हो तो वह चेतनस्वरूप नहीं है। अपने त्रिकाली चेतनस्वभावमें वर्तमान ज्ञानपर्यायकी एकता करनेसे जो ज्ञान होता है वह सम्यग्ज्ञान है और वह मोक्षका कारण है।

(९५) ज्ञेयोंको यथावत् जानने पर भी उनका आश्रय नहीं है, किन्तु स्वभावका ही आश्रय है

अखण्ड चैतन्यस्वभावकी श्रद्धा रखकर ज्ञानमें अनेक प्रकारके पदार्थ और विकारभाव भले ही ज्ञात हों, वहाँ परको जाननेसे ज्ञान खंडित नहीं होता, क्योंकि वह अनेक प्रकारोंका आश्रय नहीं करता; ज्ञानमें एक स्वभावका ही आश्रय होनेसे स्वभावके साथ ज्ञानकी एकता बढ़ती जाती है।

प्रश्न :—समयसारके समय समयसारका और प्रवचनसारके समय प्रवचनसारका ज्ञान होता है, तो इस प्रकार ज्ञान परका आश्रय करके जानता है न ?

उत्तर :—नहीं; ज्ञान परके आश्रयसे नहीं जानता। सामने जैसा ज्ञेय हो वैसा जानता है, परंतु विपरीत नहीं जानता। समयसार को

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ-३६४२५०

समयसारके रूपमें जानता है और प्रवचनसारको प्रवचनसारके रूपमें जनता है; वहाँ ज्ञेयके आश्रयसे ज्ञान नहीं है, परंतु ज्ञानकी वैसी ही योग्यता है। ज्ञानका स्वभाव ऐसा है कि ज्ञेयोंको यथावत् जानता है। समयसार हो उसे समयसारके रूपमें जानता है, किन्तु प्रवचनसारके रूपमें नहीं जानता। तथापि समयसारके कारण समयसारका ज्ञान नहीं हुआ है। ज्ञान तो अपने स्वभावसे है। सामने प्रवचनसार रखा हो तथापि उस समय अंतरमें समयसारका विचार करके ज्ञान उसे जानता है; इसलिये ज्ञान स्वतंत्र है। इस प्रकार ज्ञानकी स्वतंत्रता समझनेसे ज्ञेयका आश्रय छोड़कर जीव अपने ज्ञानस्वभावका आश्रय करता है, इससे स्व-परका भेदज्ञान होता है; भेदज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान है; चाहे जिस ज्ञेयको जानते हुये भी प्रति समय सम्यग्ज्ञानको तो एक त्रिकाली ज्ञानस्वभावका ही आश्रय है। ज्ञानको श्रुतज्ञानका, शब्दका या रूपादिका आश्रय नहीं है। इसलिये भिन्न-भिन्न ज्ञेयोंको जानने पर भी ज्ञान तो स्वभावके आश्रयसे एक ही रूप है। इसलिये ज्ञानको ज्ञानका ही (आत्माका ही) आश्रय है; श्रुत या वाणीका आश्रय ज्ञानको नहीं है।

(९६) भेदज्ञान करनेमें क्रम नहीं होता

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि—पहले श्रुतसे ज्ञानका भिन्नत्व बताया, फिर शब्दसे, फिर रूपसे—इस प्रकार क्रमशः वर्णन किया जाता है; परंतु उनका आश्रय छोड़नेमें कहीं क्रम नहीं पड़ता। पहले श्रुतका आश्रय छूटे, फिर शब्दका और फिर रूपका—इस प्रकार क्रम नहीं पड़ता; परंतु अपने परिपूर्ण आत्मस्वभावका आश्रय करते ही ज्ञानमेंसे सर्व ज्ञेयोंका आश्रय एक साथ ही छूट जाता है। एक एक ज्ञेयके लक्ष्यसे ज्ञेयोंका आश्रय छोड़ना चाहे तो नहीं छूट सकता; परंतु एक अखंडस्वभावका आश्रय करनेसे समस्त ज्ञेयोंका आश्रय छूट जाता है।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

इस प्रकार सर्व ज्ञेयोंसे ज्ञानका भेदज्ञान एक ही साथ होता है, भेदज्ञानमें क्रम नहीं पड़ता।

(९७) एक स्वभावका आश्रय करनेसे अपूर्व भेदज्ञान होता है

आत्मा स्व-परका ज्ञाता-दृष्टा है। अज्ञानभावसे वह प्रत्येक पर पदार्थके प्रति लक्ष्य करके रुकता है, और उतना ही अपना स्वरूप मानता है। यदि अनन्त सामर्थ्यसे भरपूर अपने एक स्वभावका आश्रय करे तो परमें एक-एकका आश्रय छूट जाये और स्वभावके आश्रयसे ज्ञानका विकास होते-होते ही साथ सब कुछ जाने–ऐसा ज्ञान प्रगट हो। आत्मा वस्तु और ज्ञानादि गुण त्रिकाल हैं, और पर्याय उसका अंश है। त्रिकाली द्रव्यका अंश है वह यदि त्रिकालीका आश्रय करे तो अंशीके साथ अंश अभेद होता है और परके साथ एकताकी मान्यता छूट जाती है, इससे स्व-परका अपूर्व भेदज्ञान होता है। उस भेदविज्ञानमें परसे भिन्नत्वका ज्ञान है और अपने स्वभावके साथ एकताका ज्ञान है। स्वभावके साथ एकता वह अस्ति है और परसे भिन्नता वह नास्ति है। इस प्रकार भेदज्ञानमें अस्ति-नास्तिरूप अनेकांत आ जाता है।

(९८) धर्ममें किसका ग्रहण और किसका त्याग?

प्रश्न :—इसमें कुछ छोड़नेकी बात तो नहीं आई?

उत्तर :—आत्माने परको अपना माननेरूप जो विपरीत मान्यता पकड़ी है, उसे छुड़ानेकी इसमें बात है। किसी पर वस्तुको तो आत्माने पकड़ा नहीं है कि उसे छोड़े! आत्मामें हाथ-पग या दांत नहीं हैं कि जिनसे वह पर वस्तुको पकड़े या छोड़े। आत्माने अपने स्वभावको भूलकर 'विकार है वह मैं हूँ'–इस प्रकार अपनी अवस्थामें विकारकी पकड़ कर रखी है। जिसने अपने परिपूर्ण ज्ञानानंदस्वरूपकी पकड़-श्रद्धा करके उस विकारकी पकड़ छोड़ी है उसने छोड़ने योग्य सब

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ-३६४२५०

कुछ छोड़ दिया है। स्वभावका ग्रहण और विकारका त्याग ऐसा ग्रहण-त्याग ही धर्म है। इसके अतिरिक्त पर वस्तुको आत्माने पकड़ा नहीं है, वह आत्मामें कभी प्रविष्ट नहीं होती, तब फिर आत्मा उसे छोड़ेगा कहाँसे ? मैं परको छोड़ दूँ–ऐसा जो मानता है, वह जीव परका अहंकार करनेवाला–मिथ्यादृष्टि है।

(९९) साधकके निर्मल पर्यायके अनेक प्रकार होने पर भी आश्रय तो स्वभावकी एकताका ही है

स्वभावकी रुचि करनेसे अनेक पर पदार्थोंका आश्रय एक ही साथ छूट जाता है, और पर्यायमें प्रति समय स्वभावके साथ एकता बढ़ती जाती है, तथा रागादिकी अनेकता दूर होती जाती है। पर्यायकी शुद्धता बढ़ती जाती है, उस शुद्धताकी तारतम्यता यद्यपि अनेक प्रकार की है; परंतु उस प्रत्येक पर्यायमें एक स्वभावका ही आश्रय बढ़ता जाता है इस अपेक्षासे उसमें एक ही प्रकार है। शरीर, मन, वाणी, शास्त्रादि अनेक पदार्थोंके आश्रयसे ज्ञान मानना वह धर्म नहीं है। परंतु उन शरीरादि और राग-द्वेषादिसे भिन्न एक ज्ञानानंदस्वभावके आश्रयसे ही शुद्धता प्रगट होती है, वही धर्म है।

(१००) आत्माका आश्रय लेनेसे, समस्त परका आश्रय एक ही साथ छूट जाता है, उसमें क्रम नहीं होता

यहाँ आचार्यदेव परवस्तुओंके द्रव्य-गुण-पर्यायसे ज्ञानको भिन्न बताते हैं और आत्माके द्रव्य-गुण-पर्यायसे अभेद बताते हैं। श्रुत, शब्द, रूप, वर्ण हैं वे ज्ञान नहीं हैं—इस प्रकार अनेकसे भिन्नत्व बतलानेमें कथनमें क्रम पड़ता है परंतु उन सबसे पृथक् ज्ञानस्वभावका आश्रय करनेमें क्रम नहीं होता। ज्ञान अपने स्वभावकी ओर ढला कि वहाँ समस्त परका आश्रय छूट गया। पहले श्रुतसे पृथक् करके

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

स्वभावका आश्रय करे और फिर शब्दसे, वर्णसे पृथक् करके स्वभावका आश्रय करे—ऐसा क्रम नहीं होता। परवस्तुके आश्रयमें अनेक प्रकार होते थे, इससे वर्णसे भिन्न, शब्दसे भिन्न–इसप्रकार अनेक प्रकारसे कहा है, उन सबमें स्वभावका आश्रय तो लगातार एक ही प्रकारका है। आत्माके ज्ञानको परका आश्रय नहीं है, और स्वभावका आश्रय करनेमें क्रम नहीं है, अर्थात् पहले अमुक पदार्थका आश्रय छूटे और फिर अमुक पदार्थका आश्रय छूटे–इस प्रकार छोड़नेमें क्रम नहीं है; जितना स्वभावका आश्रय करे उतना समस्त परका आश्रय छूट जाता है।

(१०१) परको जानते समय भी स्वाश्रयके बलसे साधकत्व स्थायी रहता है

परसे भिन्न अपने चैतन्यस्वभावके आश्रयसे श्रद्धा-ज्ञान होनेके पश्चात् अनेक प्रकारके परज्ञेयोंको ज्ञान जानता है, तथापि उस समय स्वभावकी रुचि छोड़कर परको नहीं जानता; परको जाननेसे मेरा स्वाश्रय छूट जाता है–ऐसी शंका ज्ञानमें नहीं पड़ती। चाहे जिस परको और रागादिको जानने पर भी श्रद्धा-ज्ञानमें तो एक स्वाश्रयका ही आदर रहता है; इससे उस समय स्वाश्रयके बलसे ही साधकत्व बना हुआ है, और स्वाश्रयके ही बलसे उसमें वृद्धि होती रहती है। इससे साधकको परको जानते समय भी वास्तवमें तो ज्ञानकी स्वाश्रयोन्मुखता ही बढ़ती है और पराश्रयोन्मुखता दूर होती जाती है। इस प्रकार स्वाश्रय ही धर्म है।

(१०२) धर्मका क्रम

इस प्रकार स्वाश्रय स्वभावकी श्रद्धा और ज्ञान करना वह धर्मकी प्रथम भूमिका है। पश्चात् स्वभावमें विशेष ढलनेसे रागादि दूर

होते जाते हैं, पराश्रयभाव छूटता जाता है और अंतमें वीतरागता होकर पूर्ण स्वभाव प्रगट हो जाता है, केवलज्ञान होता है–जीवनमुक्तदशा होती है। उसके पश्चात् देह रहित होकर सर्वथा मुक्त सिद्धभगवान हो जाता है। ऐसा धर्मके प्रारंभका, मध्यका और पूर्णताका क्रम है।

(१०३) ज्ञानी और अज्ञानीकी करुणामें महान अंतर : ज्ञानीको करुणाके समय भी धर्म और अज्ञानीको अधर्म

जिसने अपने त्रिकाली स्वभावका आश्रय किया है, उसे अस्थिरताके कारण राग हो, तो वह परके कारण नहीं मानता। पर जीवको दुःखी देखनेके कारण राग नहीं मानता परंतु अपनी अस्थिरताके कारण करुणाभाव हो जाता है। और उस समय भी अपने ज्ञानस्वभावका आश्रय छोड़े बिना उसे जानता है; इससे उस समय भी सम्यक्श्रद्धा–ज्ञानरूपी धर्म है। और जो पर जीव दुःखी हो रहा है, उसे रोटी नहीं मिलती–उस कारणसे या किसी भी संयोगके कारण दुःख नहीं है, परंतु अज्ञानभावसे और मोहसे दुःख है। यह शरीर मेरा है, और आहारादिके बिना मेरा नहीं चल सकता–ऐसी देहदृष्टिसे ही उसे दुःख है। उसका वह दुःख बाह्य संयोगसे –रोटी मिलनेसे दूर नहीं होता, परंतु वह जीव स्वयं देह दृष्टि छोड़कर स्वभावदृष्टि करे तभी उसका दुःख दूर होता है। दूसरा कोई उसका दुःख दूर करनेमें समर्थ नहीं है;— ऐसा भान ज्ञानीको होनेसे उन्हें परके प्रति एकत्वबुद्धिसे करुणाभाव नहीं होता, और मैं परको सुखी-दुःखी कर सकता हूँ–ऐसा वे नहीं मानते। इससे करुणाका रागभाव हुआ उस समय भी स्वभावके आश्रयसे उनके धर्म बना हुआ है। वास्तवमें स्वभावके आश्रयसे वे रागके भी ज्ञाता ही हैं। रोटी आदिका क्षेत्रांतर होना वह जड़की क्रिया है और आत्माके भावोंका बदलना वह आत्माकी क्रिया है। प्रत्येक वस्तुका क्षेत्रांतर या भावांतर (भिन्न-भिन्न प्रकारकी अवस्था) वस्तुके अपने स्वभावसे ही

होते हैं। दूसरा कोई कहे कि मैं रोटी आदिका क्षेत्रांतर कर दूँ या दूसरेको मैं सुखी कर दूँ (भावान्तर कर दूँ) तो वह जीव सत्य वस्तुस्वरूपको नहीं समझा है। आहार-पानीको लेने-देनेकी क्रिया आत्मा नहीं करता। उनकी क्षेत्रांतर आदि क्रिया अपने आप जैसी होना हो वैसी होती है। पर जीवकी करुणा आनेसे ऐसा माने कि इसके दुःखके कारण मुझे करुणा उत्पन्न हुई, और मैं इसका दुःख मिटा दूँ, अथवा आहारादि देनेकी क्रिया मैं करूँ-तो वह जीव करुणाभावके पुण्यके साथ ही मिथ्यात्वका महान पाप बांधता है; इससे करुणाभावके समय भी विपरीत मान्यताके कारण उसे अधर्म ही होता है।

(१०४) सबसे महान जीवहिंसा और सच्ची दया

प्रश्न :—यदि लोग ऐसा समझेंगे कि आत्मा पर जीवको बचा या मार ही नहीं सकता, तो दया कम हो जायेगी न ?

उत्तर :—इस प्रकार सच्चा समझनेमें ही सच्ची दया आती है। अनादिसे विकारका और परका कर्ता अपनेको मानकर अपने ज्ञानस्वभावकी हिंसा कर रहा है यदि यह सच्चा समझले तो वह हिंसा रुक जाये और अपनी सच्ची दया प्रगट हो। और जिसे ऐसी स्वदया प्रगट हो उस जीवको, दूसरे जीवको मारनेका तीव्र कषायभाव होगा ही नहीं, इससे स्व-दया में पर-दया सहज ही आ गई। पर जीवोंको तो कोई मार या बचा नहीं सकता। रागी जीवको अपने कारण अनुकंपाभाव होता है, परंतु वह परको बचानेमें समर्थ नहीं है। जीव अपने भावोंमें दया या हिंसा करता है; उसमें मिथ्यात्व वह अपने जीवकी सबसे बड़ी हिंसा है। सच्ची समझसे वह सबसे महान जीवहिंसा दूर होती है और सच्ची स्वदया प्रगट होती है। नीचे की दशामें अनुकंपा आदिका शुभभाव आता अवश्य है, परंतु उसका

आश्रय करने योग्य नहीं है; उसके आश्रयसे ज्ञान या धर्म नहीं है। यदि उस शुभ विकल्पोंका आश्रय माने तो उसके आश्रयसे तो अज्ञान और मिथ्यात्वकी उत्पत्ति होती है, वही हिंसा है, और उसका फल संसार है।

(१०५) आत्माकी नौका किसके विश्वाससे तैरती है?

कोई आत्मा ज्ञानस्वभावसे रहित नहीं होता; और कोई पुद्गल स्पर्श, रस, गंध, वर्ण रहित नहीं होता। गंध पुद्गलका गुण है और ज्ञान जीवका गुण है। गंधके कारण ज्ञान नहीं होता, परंतु त्रिकाली चैतन्यस्वभावी आत्मा है, उसीके आधारसे ज्ञान होता है। आत्मा स्पर्श-रस आदिसे पृथक्, परसे भिन्न, देव-गुरु-शास्त्रसे भिन्न और पुण्य-पापके भावोंसे भिन्न मात्र ज्ञानानंदस्वभावी है; उसके विश्वाससे रुचिसे-श्रद्धासे ही धर्म होता है। जिस प्रकार लोकव्यवहारमें कहते हैं कि— 'विश्वाससे नाव तैरती है' उसीप्रकार चैतन्यस्वभावकी श्रद्धा और आश्रयसे संसार-समुद्रसे पार होकर आत्मा मुक्ति प्राप्त करता है। चैतन्यस्वभावकी श्रद्धाके बिना किसी अन्यके विश्वाससे धर्म नहीं होता और आत्माकी नौका संसार-समुद्रसे पार नहीं होती। परके विश्वासमें रुके वह संसार-समुद्रमें डूब जाता है।

* रससे ज्ञानका भिन्नत्व *

अब रससे ज्ञानस्वभावको स्पष्टरूपसे भिन्न बतलाते हैं।

रस, ज्ञान नहीं है, क्योंकि रस पुद्गल द्रव्यका गुण है अचेतन है; इसलिये ज्ञानका और रसका व्यतिरेक है।

(१०६) रसमें ज्ञान नहीं है और न रसके कारण ज्ञान होता है

भिन्न-भिन्न प्रकारके रस ज्ञानमें ज्ञात हों वहाँ अज्ञानी लोग ऐसा

मानते हैं कि इस रसके कारण हमें उसका ज्ञान हुआ। खट्टा रस आनेसे खट्टेका ज्ञान होता है और मीठा रस आनेसे मीठेका ज्ञान होता है— इस प्रकार वे रसके आश्रयसे ज्ञान मानते हैं। उन्हें रस और ज्ञानकी भिन्नताका भान नहीं है। आचार्यभगवान कहते हैं कि हे भाई ! तेरा ज्ञान रसमें नहीं है और न रसके आश्रयसे तेरा ज्ञान है। रसको जानते समय तुझे रसका अस्तित्व भासित होता है, परंतु उस समय तेरे आत्मामें कुछ है या नहीं ? उस समय तेरा ज्ञानस्वभाव तुझमें कार्य करता है या नहीं ? या वह रसमें ही चला गया है ? तेरा ज्ञान त्रिकाल आत्माके साथ अभेद है, उसकी श्रद्धा कर और रसकी श्रद्धा छोड़ ! रसके कारण ज्ञान हुआ यह मान्यता छोड़ ! ज्ञान तो तेरी स्वभावशक्तिसे ही होता है; इसलिये ज्ञानमें स्वभावका आश्रय कर !

(१०७) भेदविज्ञानीके ज्ञानका कार्य

भेदविज्ञानी रसको जानता हो और अल्पराग होता हो, उस समय भी ज्ञानस्वभावकी एकतामें ही उसका ज्ञान कार्य कर रहा है। रसके साथ या रागके साथ एकतासे उसका ज्ञान कार्य नहीं करता; किसी समय स्वभावकी एकता छोड़कर परको नहीं जानता, इससे उसके प्रतिसमय ज्ञानकी शुद्धता ही बढ़ती जाती है।

(१०८) अज्ञानीके ज्ञानका कार्य

अज्ञानी जीव स्वभावको न माननेसे बाह्यमें सुख मानते हैं। रसको जाननेसे उसमें एकाकार हो जाते हैं कि—इस रस में बड़ा आनंद आया ! बहुत मीठा लगा ! अरे भाई ! काहे का आनंद ? तेरे आत्मामें आनंद सुख है या नहीं ? रस तो जड़ है; क्या जड़में तेरा आनंद है ? और क्या जड़ रस तेरे आत्मामें प्रविष्ट हो जाता है ? तेरा आनंद-सुख तो तेरे ज्ञानस्वभावमें ही है; संपूर्ण ज्ञानस्वभावको भूलकर एक रसको

जाननेसे ज्ञान वहीं राग करके रुक गया उसे अज्ञानी जीव रसका स्वाद मानते हैं। परंतु ज्ञान परमें न रुककर आत्मस्वभावोन्मुख होनेसे स्वभावका अतीन्द्रिय आनंद आता है, वही सच्चा सुख है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुमें सुख नहीं है।

(१०९) ज्ञानकी परमें लीनता वह अधर्म, और स्वभावमें लीनता वह धर्म

गुलाबजामुन, लड्डू या आमके रस आदिका स्वाद आत्मामें नहीं आता। ज्ञानमें मात्र ऐसा ज्ञात होता है कि यह रस है, यह स्वादिष्ट है। किन्तु ऐसा ज्ञात नहीं होता कि मैं स्वादिष्ट हूँ। इस प्रकार रसका और ज्ञानका भिन्नत्व ही है। परंतु अज्ञानी जीव स्वभावसे च्युत होकर रसकी रुचिमें लीन हुआ है–वह अधर्म है। और पर पदार्थोंकी रुचिसे अधिक होकर–छूटकर स्वभावकी रुचि द्वारा वर्तमान अवस्थाको स्वभावमें धारण कर रखे–बना रखे, वह धर्म है। वर्तमान अवस्था विकारमें न रहकर स्वभावमें रहे वह धर्म है। ज्ञानस्वरूप आत्मा और समस्त पर वस्तुएँ बिलकुल पृथक् हैं–ऐसा जाने बिना और आत्मस्वरूपकी रुचि बिना कभी भी धर्म नहीं होता।

[५]

(वीर सं. २४७४ भाद्रपद कृष्णा, ३० शुक्रवार)

(११०) सुखका सच्चा साधन क्या है?

प्रत्येक जीव सुखी होना चाहता है, सुखी होनेके लिये प्रथम तो यह समझ लेना चाहिये कि सुखका स्वरूप क्या है और उसके साधन क्या हैं। वर्तमान अवस्थामें दुःख है, इससे उसे दूर करके सुखी होना चाहता है; इसलिये वर्तमान अवस्थामें दुःख है उसे भी जान लेना चाहिये। यदि वर्तमानमें स्वयं परिपूर्ण सुखी हो तो पर पदार्थोंके सन्मुख देखना न हो और न उन्हें प्राप्त करनेकी इच्छा हो। अज्ञानी जीव पर वस्तु प्राप्त करके अपना दुःख दूर करना चाहता है, परन्तु वह प्रयत्न मिथ्या है। आत्माका स्वभाव ही पूर्ण सुखरूप है, उसके विश्वाससे अन्तर–साधन द्वारा ही वह प्रगट होता है। किन्हीं बाह्य साधनों द्वारा आत्माको सुख नहीं होता। अज्ञानी परमें सुख मानकर परकी चाह करता है, उसके बदले स्वभावकी चाह–रुचि करे तो सुखी हो जाये ! आत्मा ज्ञानस्वभावी स्वाधीन परिपूर्ण है, परसे पृथक् है; परके अवलम्बनसे उसे सुख हो–ऐसा वह पराधीन नहीं है। पर्यायमें रागादि होने पर भी अन्तरमें श्रद्धा करना चाहिये कि मैं अपने स्वभावसे परिपूर्ण सुखरूप हूँ, ज्ञानादि अनंत गुणोंका भंड़ार हूँ, अपने ही अवलम्बनसे मुझे सुख है। यदि ऐसी श्रद्धा न करें तो जैसे जैसे पर पदार्थ आयें उनमें सुख मानकर ज्ञान वहीं एकाकार हो जायेगा। इससे उसका ज्ञान वर्तमानमें पर लक्षसे होनेवाले विकारमें रुक जायेगा; परन्तु सुखसे परिपूर्ण अपना स्वभाव है उसका आश्रय नहीं करेगा, इससे उसे सच्चा सुख नहीं होगा। पर्यायमें शुभ-अशुभ भाव होने पर भी उस समय त्रिकाल एकरूप परिपूर्ण स्वभावकी श्रद्धा और विश्वास दूर न हो उसे

स्वभावके आश्रयसे सुख प्रगट होता है और विकार दूर होता जाता है।

(१११) किसके आश्रयसे परिवर्तित होनेसे सुख प्रगट होता है?

और वर्तमान पर्यायमें परको जाननेका ज्ञानका जो विकास है उसीका विश्वास करे अर्थात् उस विकासको ही पूर्ण आत्मा मान ले, तो उस वर्तमान पर लक्षी विकाससे आगे बढ़कर त्रिकाली स्वभावकी ओर नहीं ढलता; इससे त्रिकालीके आश्रयसे उसकी वर्तमान दशा नहीं बदलती, परन्तु परके आश्रयसे ही परिवर्तित होती है। त्रिकालीके आश्रय बिना विकार और अपूर्णता दूर होकर शुद्धता और पूर्णता नहीं होती अर्थात् सुख नहीं होता। सुख किसी दूसरे पदार्थमें नहीं है, और परको जाने उतनी अपनी दशामें भी सुख नहीं है। सुख अपने स्वभावमें है, उसका आश्रय करके परिणमित होनेसे पर्यायमें सुख प्रगट होता है।

(११२) स्वलक्षसे धर्म और परलक्षसे अधर्म

आत्मा ज्ञानस्वरूप है; शरीर, वाणी, देव-गुरु-शास्त्र इस आत्मासे पृथक् पदार्थ हैं। प्रत्येक वस्तुमें द्रव्य-गुण तो त्रिकाल एकरूप हैं और उनका कार्य वर्तमानमें नवीन नवीन होता है। धर्म और अधर्म यह दोनों कार्य हैं, जीवकी अवस्था है। अधर्म क्यों होता है और धर्म क्यों होता है–उसकी यहाँ बात है। जीवकी जो वर्तमानदशा है वह परमेंसे नहीं होती; वह वर्तमानदशा यदि देव-गुरु-शास्त्रादि परके सन्मुख देखती रहे तो धर्म नहीं होता। और उस वर्तमान अंश जितना ही आत्माको माने तो भी धर्म नहीं होता। अपनी अवस्था पर निमित्तोंको ओर ही देखती रहे अथवा उस वर्तमानदशाके सन्मुख ही देखती रहे उससे अधिक होकर स्वभावोन्मुख नहीं होती। यदि वह वर्तमान अवस्था त्रिकाली द्रव्यकी रुचि करके उस द्रव्यके आश्रयसे अभेद हो तो परसे भेदज्ञान हो और परका–विकारका या वर्तमान

पर्यायका आश्रय छूट जाये और स्वभावके आश्रयसे शांति हो–धर्म हो। पर लक्षसे अधर्म है और स्व लक्षसे धर्म है।

(११३) पूर्णके आश्रयसे पूर्णता और अपूर्णके आश्रयसे विकार

आत्मा एक स्वतंत्र वस्तु है, वह स्वतः परिपूर्ण और त्रिकाल स्थायी है। वर्तमान अवस्थामें जो राग–विकार या अपूर्णता दिखाई देती है उतना ही आत्मा नहीं है; क्योंकि यदि उस वर्तमान भाव जितना ही आत्मा हो तो राग दूर करके वीतरागता कहाँसे होगी ? आत्मा वर्तमान भाव जितनी नहीं है परन्तु त्रिकाल पूर्ण है। यदि उस पूर्णका आश्रय करे तो अवस्थामें भी पूर्णता प्रगट हो। परन्तु उस पूर्णको स्वीकार न करे और वर्तमान भाव जितना ही अपनेको माने तो उस अपूर्ण और विकारी भावके आश्रयसे तो अपूर्णता और विकार ही होगा अर्थात् अधर्म ही होगा। वर्तमान अशुद्ध दशाके आश्रयसे अशुद्धता दूर नहीं होती, परन्तु त्रिकाली शुद्ध स्वभावके आश्रयसे अशुद्ध दशा दूर होकर शुद्धता प्रगट होती है। धर्मी होनेके लिये प्रथम क्या करना चाहिये उसकी यह बात है। प्रथम परसे और विकारसे भिन्न अपने आत्मस्वभावको पहिचाननेका मार्ग ग्रहण करना चाहिये। परसे भिन्न आत्मस्वभाव कैसे जाना जाता है–उसीका यह वर्णन हो रहा है।

(११४) आचार्य भगवान भेदज्ञान कराते हैं

भगवान श्री कुंदकुंदाचार्यदेवने इन ३९० से ४०४ तककी पंद्रह गाथाओंमें ज्ञानको स्पष्टतया सर्व परद्रव्योंसे भिन्न बताया है। उस पर श्री अमृतचंद्राचार्यदेवने अद्‌भुत टीका की है। ऐसी आध्यात्मिक टीका इस कालमें भरतक्षेत्रमें अजोड़ है। उसका यह विस्तार होता है। आचार्यदेव पहले तो ज्ञानको सर्व परद्रव्योंसे, उनके गुणोंसे और उनकी पर्यायोंसे भिन्न बताते हैं, विकारसे भी भिन्न बताते हैं और फिर आत्माके

द्रव्य-गुण-पर्यायके साथ ज्ञानकी एकता है—ऐसा बतलाएँगे। इस प्रकार अस्ति–नास्ति द्वारा ज्ञानस्वभावका परसे भेदज्ञान कराया है।

* स्पर्शसे ज्ञानका भिन्नत्व *

स्पर्श नामक पुद्गल द्रव्यका गुण है। स्पर्श है वह ज्ञान नहीं है, क्योंकि स्पर्श अचेतन है, इसलिये ज्ञानका और स्पर्शका भिन्नत्व है।

रूखा-चिकना, नरम-कठोर, हलका-भारी, ठंडा-गरम यह आठ प्रकारका स्पर्श है, वह पुद्गलकी अवस्था है; उसके आधारसे आत्माका ज्ञान नहीं है। उसके आधारसे जो ज्ञान होता है वह सुखका कारण नहीं है।

(११५) त्रिकाली द्रव्यके आधार बिना भेदज्ञानका सार प्रगट नहीं होता। त्रिकाली द्रव्यके आधारसे रहित ज्ञान अचेतन है

पुद्गलका स्पर्शगुण आत्मामें नहीं है और आत्माके ज्ञान, सुख, श्रद्धा, चारित्र आदि कोई गुण स्पर्शमें नहीं हैं। स्पर्शको जानने जितना आत्माका ज्ञान नहीं है। स्पर्शके ज्ञानसे आत्मामें श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता नहीं होते। स्पर्शको जाननेवाला ज्ञान मुझे आत्मस्वभावकी एकाग्रतामें मदद करेगा–ऐसा माननेवालेने स्पर्श और ज्ञानको पृथक् नहीं माना है। त्रिकाली सामर्थ्यमेंसे वर्तमान ज्ञान आता है, उस ज्ञानके द्वारा त्रिकाली सामर्थ्यको जानना चाहिये, उसके बदले स्पर्शको जानने जितना ही जो ज्ञानको मानता है उसने स्पर्शके आधारसे ज्ञान माना है। उसका ज्ञान परमार्थसे अचेतन है। स्पर्शके कारण ज्ञान हुआ–ऐसा न माने, लेकिन वर्तमान ज्ञानके आश्रयसे (पर्यायके लक्षसे) ज्ञानका परिणमन माने तो वह भी पर्यायमूढ़ मिथ्यादृष्टि है। एकके पश्चात् एक ज्ञान अवस्थारूप होनेवाला तो त्रिकाली ज्ञाता द्रव्य है। त्रिकाली द्रव्य परिणमित होकर

अवस्थाएँ होती हैं। उस त्रिकाली स्वभावके आश्रयसे ज्ञान होता है—इस प्रकार श्रद्धा करके वर्तमान ज्ञानको उस त्रिकाली द्रव्यमें लीन करना ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है—वही भेदज्ञानका सार है। जो ज्ञान त्रिकाली द्रव्यके साथ एकता न करे और मात्र वर्तमान विकासमें ही एकता माने वह ज्ञान मिथ्या है।

स्पर्श तो अचेतन है; उसमें तो ज्ञान नहीं है, परन्तु स्पर्शके लक्षसे जो ज्ञान होता है वह भी चेतनके साथ एक नहीं होता। पर्यायदृष्टिसे हुआ ज्ञान रागके साथ एकत्व रखता है इससे वह वास्तवमें ज्ञान नहीं है। त्रिकाल ज्ञानस्वभावके लक्षसे जो ज्ञान होता है वही सम्यग्ज्ञान है। स्वभावोन्मुख सम्यग्ज्ञान आत्मा ही है; आत्मा और ज्ञान भिन्न नहीं हैं।

(११६) शास्त्रके लक्षसे भेदविज्ञान नहीं होता

यहाँ जो ज्ञान स्वभावोन्मुख हुआ उसीको चेतन कहा है; वर्तमान अवस्थामें रागको कम करके शास्त्रादिके अभ्याससे ऐसा कहे कि—'परसे ज्ञान नहीं होता, परसे ज्ञान पृथक् है'—और इस प्रकार शास्त्रके लक्षमें ही रुका रहे तो वह ज्ञान भी यथार्थ ज्ञान नहीं है; क्योंकि उस जीवको वर्तमान पर्यायमें परके लक्षसे प्रगट हुये क्षणिक ज्ञानकी रुचि है, वह वर्तमान अंशको ही पूर्ण स्वरूप मान लेता है; उसे त्रिकाल ज्ञानस्वभावकी रागरहित श्रद्धा नहीं है; वह भी शास्त्रके लक्षसे रागमें ही रुका हुआ है। पर लक्षसे तीव्र कषायमेंसे मंदकषाय हुई है–इससे मात्र राग ही बदला है, परन्तु वह रागसे छूटकर स्वभावमें नहीं आया है, स्वभावका परिणमन नहीं हुआ है। इससे उसे भेदविज्ञान नहीं होता।

ज्ञान अपने स्वभावसे ही होता है। बाहरके किसी भी पदार्थसे ज्ञान नहीं होता–ऐसा समझनेमें पहले सत्का श्रवण तथा शास्त्रका लक्ष

होता है, परन्तु उस श्रवणके लक्षसे या शास्त्रके लक्षसे ज्ञान नहीं है– ऐसा समझकर उन शास्त्रादिका लक्ष छोड़कर यदि अपने ज्ञानस्वभावकी ओर ढले तो, सम्यग्ज्ञान होता है और रागसे पृथक् होता है।

(११७) स्व-परको भिन्न जानकर स्वका आश्रय करना वह भेदविज्ञानका सार है

शास्त्रादि तो स्वयं ही अचेतन हैं, वे ज्ञानके कारण नहीं हैं; और देव-गुरु चेतन हैं, परन्तु उनका ज्ञान उन्हींमें है; दूसरे आत्मामें उनका ज्ञान किंचित् नहीं आता। वे इस आत्माको ज्ञानके कारण बिलकुल नहीं होते। इस आत्माका ज्ञान स्वमें परिपूर्ण है और देव-गुरुमें किंचित् नहीं है, इससे इस आत्माकी अपेक्षासे दूसरे सभी आत्मा अचेतन हैं; उनका ज्ञान इस आत्मामें नहीं आता। इसलिये देव-गुरु या सिद्ध भगवानका लक्ष भी छोड़ने योग्य है। सिद्ध भगवानके लक्षसे भी आत्माको राग होता है इसलिये सबसे भिन्न अपने आत्माको जानकर उसीका आश्रय करनेसे सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और वीतरागता होती है। स्व-परको भिन्न जानकर निज आत्मस्वभावका आश्रय करना ही भेदविज्ञानका सार है।

(११८) सत्यधर्मके श्रवण, ग्रहण, धारणा, मंथन और परिणमनकी उत्तरोत्तर दुर्लभता

अनंतानंतकालमें मनुष्यत्व मिलना दुर्लभ है। मनुष्य भवमें ऐसी सत्यधर्मकी बात सुननेको कदाचित् ही मिलती है। इस समय तो लोगोंको यह बात बिलकुल नयी है। ऐसी सत्य बात सुननेको मिलना महा दुर्लभ है; सुननेके पश्चात् बुद्धिमें उसका ग्रहण होना दुर्लभ है, 'यह क्या न्याय कहना चाहते हैं'—ऐसा ज्ञानमें आ जाना दुर्लभ है। ग्रहण होनेके पश्चात् उसकी धारणा होना दुर्लभ है। सुनते समय अच्छा लगे

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ-३६४२५०

और सुनकर बाहर निकलने पर सब भूल जाये तो उसके आत्मामें कहाँसे लाभ होगा ? श्रवण, ग्रहण और धारणा करके पश्चात् एकान्तमें अपने अंतरंगमें विचार करे, अन्तरमें मंथन करके सत्यका निर्णय करे यह दुर्लभ है। परंतु जिसने सच्ची बात ही न सुनी हो वह ग्रहण क्या करेगा ? और धारणा काहे की करेगा ? अंतरमें यथार्थ निर्णय करके उसे रुचिमें परिणमित करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना वह महान दुर्लभ अपूर्व है। इस सम्यग्दर्शनके बिना किसी भी प्रकार जीवका कल्याण नहीं होता। देखो, इसमें प्रारम्भिक उपाय कहा है। प्रथम तो सांसारिक लोलुपता कम करके तत्त्व श्रवण करनेके लिये निवृत्ति लेना चाहिये। श्रवण, ग्रहण, धारणा, निर्णय और रुचिमें परिणमन–इतने बोल आये। वे सभी एक से एक दुर्लभ हैं। श्रवण करके विचार करे कि मैंने आज क्या सुना है ? नया क्या समझा है ?–इसप्रकार अंतरमें प्रयत्न करके समझे तो आत्माकी रुचि जागृत हो और तत्त्व समझमें आये। परन्तु जिसके सत्यके श्रवण, ग्रहण और धारणाका ही अभाव है उसे तो सत्स्वभावकी रुचि ही नहीं होती और सत्स्वभावकी रुचिके बिना उसका परिणमन कहाँसे होगा ? रुचिके बिना सत्य समझमें नहीं आता और धर्म नहीं होता।

(११९) सत्धर्मके श्रवणके पश्चात् आगे बढ़नेकी बात

भगवानने कहा है अथवा तो ज्ञानी कहते हैं–इसलिये यह बात सत्य है–इस प्रकार परके लक्षसे माने तो वह शुभभाव है, वह भी सच्चा ज्ञान नहीं है। प्रथम देव-गुरुके लक्षसे वैसा राग होता है, परन्तु देव-गुरुके लक्षको छोड़कर स्वयं अपने अंतरस्वभावोन्मुख होकर रागरहित निर्णय करे कि मेरा आत्मस्वभाव ही ऐसा है, तो उसके आत्मामें सच्चा ज्ञान हुआ है। इससे कहीं सत्समागमका या श्रवणादिका निषेध नहीं है, सत्समागमसे सत्धर्मका श्रवण किये बिना तो कोई जीव आगे बढ़

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

ही नहीं सकता, किन्तु उन श्रवणादिके पश्चात् आगे बढ़नेकी यह बात है। मात्र श्रवण करनेमें धर्म न मानकर ग्रहण, धारणा और निर्णय करके आत्मामें रुचिपूर्वक परिणमित करना चाहिये।

(१२०) ज्ञानका फल सुख

स्पर्श है वह ज्ञान नहीं है, इससे अमुक वस्तुका स्पर्श होनेसे उसका ज्ञान नहीं होता, और कोमलादि स्पर्शके कारण सुख नहीं होता। ज्ञान और सुख एक ही हैं। अज्ञान दूर हुआ वह ज्ञानका फल ऐसा कहा जाता है, वह नास्तिकी अपेक्षासे है; अस्तिसे कहनेमें ज्ञानका फल सुख है।

(१२१) त्रिकाली तत्त्वको स्वीकार किये बिना निर्मल पर्यायका पुरुषार्थ प्रगट नहीं होता

आत्मा अनादि-अनंत ज्ञानादि गुणोंका पिण्ड है, आनंदस्वरूप है, वर्तमानमें जो अपूर्णदशा है वह आत्माका स्वरूप नहीं है। जिस प्रकार सोना अपनी वर्तमान एक कुंडलादि अवस्था जितना नहीं है, परंतु अँगूठी, हार इत्यादि अनेक अवस्थाएँ होनेकी शक्ति उसमें विद्यमान है। एक अवस्था बदलकर दूसरी अवस्था हो, वहाँ सोना तो स्थायी रहता है; और सोनेकी अवस्था सोनेके ही कारण होती है; सोनार या हथोड़ी आदिके कारण नहीं होती। यदि सोनेको एक कुंडलादि अवस्था जितना ही माने तो 'इस सोनेमेंसे कुंडल बदलकर अंगूठी बनाना है'–ऐसा जो भिन्न पर्यायका ज्ञान है वह मिथ्या सिद्ध होगा। भिन्न भिन्न अवस्थाएँ बदलती होने पर भी सोना सोनेरूप स्थायी रहता है–ऐसा ज्ञान स्वीकार करे तभी कुंडल तोड़कर कड़ा आदि करनेका भाव होता है। इसप्रकार वहाँ भी सोनेकी ध्रुवता स्वीकार करता है। उसी प्रकार आत्मा वर्तमान अवस्था जितना नहीं है, परन्तु त्रिकालस्थायी

ध्रुव है; इस प्रकार ध्रुवस्वभावको स्वीकार करे तो उस ध्रुवके आधारसे नवीन निर्मलदशाका उत्पाद हो और मलिनदशाका व्यय हो ध्रुवके आधारसे वर्तमान पर्याय होती है–ऐसा न मानकर जो परके कारण आत्माकी वर्तमानदशाको मानता है उसने अपने स्वाधीन तत्त्वको नहीं माना है। और जिसने वर्तमान पर्याय जितना ही ज्ञान माना है उसे भी वह वर्तमान बदलकर नवीन निर्मल वर्तमान नहीं रहता जिसने वर्तमान जितना ही ज्ञान माना है उसे वर्तमानका ही आश्रय करना रहा, परंतु त्रिकाल ध्रुवका आश्रय करना न रहा। इससे उसने अपने विकारदशा दूर होकर मोक्षदशा प्रगट करनेका पुरुषार्थ स्वीकार नहीं किया है, उसका मिथ्यात्व और अज्ञान दूर नहीं होता। उसने एक समय जितना ही आत्माको माना है परन्तु त्रिकाल आत्माको स्वीकार नहीं किया है।

(१२२) परसे ज्ञान होता है–ऐसा माने, उसे संयोगोंमें एकत्वबुद्धि है

आत्माका ज्ञान परसे होता है–ऐसा माने वह सम्पूर्ण आत्मद्रव्यका नाश करता है, और जो वर्तमान पर्याय जितना ही आत्माको माने वह दूसरी अवस्थाओंका नाश करता है–इससे द्रव्यका ही नाश करता है। इन्द्रियों और पर पदार्थों आदि संयोगोंके कारण ज्ञान हुआ ऐसा जो मानता है वह जीव उस संयोगके अभावमें ज्ञानका ही अभाव मानेगा, इससे उसने ज्ञान और आत्माकी एकता नहीं मानी है परन्तु ज्ञानकी और संयोगोंकी एकता मानी है। उस जीवको सदैव स्पर्शादि संयोगोंकी भावना बनी रहती है;—यह अधर्म है। ज्ञानकी वर्तमान अवस्था जितना ही आत्मा नहीं है, परन्तु स्थायी ज्ञानस्वभावसे पूर्ण आत्मा है, और उसीमेंसे ज्ञान आता है–इस प्रकार यदि प्रतीति करे तो वह पूर्ण स्वभावके आश्रयसे अपूर्णदशाको टालकर पूर्ण अवस्था प्रगट करेगा।

(१२३) स्वभावको समझना वह न्याय है

ऐसा ही वस्तुका स्वभाव है, धर्मका स्वरूप ऐसा ही है। न्यायसे वस्तुस्वभाव कहा जा रहा है, जैसा-तैसा मान लेनेकी बात नहीं है। न्यायका अर्थ है सम्यग्ज्ञान। 'न्याय' शब्दमें 'नी' धातु है। 'नी'का अर्थ है ले जाना। जैसा वस्तुका स्वभाव है वैसे स्वभावमें ज्ञानको ले जाना अर्थात् ज्ञानमें यथार्थ वस्तुस्वभावको समझना वह न्याय है।

(१२४) परसे भिन्नत्वको जाने तो स्वमें स्थिर हो

स्पर्शादिके कारण मेरा ज्ञान है–ऐसा माननेवाले को स्पर्शके ज्ञानसे आगे बढ़कर स्वभावमें ढलना नहीं रहता; स्पर्शका लक्ष छोड़कर स्वभावमें अपने ज्ञानको एकाग्र करूँ–यह बात उसको नहीं रहती; अर्थात् मेरी वर्तमान दशा हीन है उसे दूर करके स्वभावके आश्रयसे मैं पूर्ण सुखी होऊँगा ऐसा उसे विश्वास नहीं है। इससे यहाँ आचार्यदेव आत्माका ज्ञानस्वभाव परसे भिन्न बतलाते हैं। अपने ज्ञानको परसे भिन्न जाने तो स्वमें स्थिर हो।

(१२५) अवस्थामें नवीन ज्ञान कहाँसे आता है?

ज्ञान चेतन है; ज्ञानकी अवस्था चेतनके आधारसे होती है या अचेतनके आधारसे? चेतनकी अवस्था अचेतनके आधारसे नहीं होती। जिस प्रकार सोनेमें भिन्न-भिन्न आकार उसकी अपनी योग्यता-सामर्थ्यसे होते हैं–सोनारके कारण नहीं। यदि सोनारके कारण सोनेके आकार होते हों तो उस समय सोनेके स्वभावने क्या किया? उस समयकी सोनेकी अवस्था क्या हुई? इसलिये सोनेके ही कारण उसकी अवस्था होती है। और सोना वर्तमान अवस्थाके आकार जितना ही नहीं है; यदि वह वर्तमान आकार जितना ही हो तो फिर वह आकार

बदलकर नया आकार कहाँसे आयेगा ? उसी प्रकार ज्ञानकी नयी नयी अवस्था ज्ञानके ही कारणसे होती है, निमित्तोंके कारण नहीं। ज्ञेय वस्तु आई इसलिये ज्ञान हुआ, कोमल स्पर्श आया इसलिये उसका ज्ञान हुआ–ऐसा नहीं है; परन्तु ज्ञानकी उस अवस्थाके सामर्थ्यसे ही नया ज्ञान हुआ है। और स्पर्शकी ओरका ज्ञान बदलकर आत्माकी ओरका ज्ञान करना हो तो वह ज्ञान किसी पर लक्षसे नहीं होता, वर्तमान ज्ञानपर्यायके लक्षसे नहीं होता; पूर्वकी अवस्था तो व्यय हो गई है उसमेंसे नवीन ज्ञान नहीं आता, परन्तु जो नित्यस्थायी द्रव्य है उस ओर उन्मुख होता हुआ ज्ञान आत्माको नित्य जानता है। नित्यके आश्रयसे ही ज्ञान आता है। पर ज्ञेय मैं नहीं हूँ, और उन ज्ञेयोंमेंसे मेरा ज्ञान नहीं आता, व्यतीत ज्ञान अवस्थाओंमेंसे ज्ञान नहीं आता, रागके कारण ज्ञान नहीं होता, और वर्तमान वर्तती ज्ञान अवस्थामेंसे दूसरी अवस्था नहीं आती, परंतु सदैव मेरा ज्ञानस्वभाव है, उसमेंसे सदैव ज्ञान अवस्था होती रहती है;–इस प्रकार यदि अपने ज्ञानस्वभावकी रुचि करके उस ओर उन्मुख हो तो अवस्थामें सम्यग्ज्ञान प्रगट हो–धर्म हो और परकी रुचि दूर हो जाये।

(१२६) ज्ञानी स्वके आश्रयसे सुखी होता है और अज्ञानी पराश्रय मानकर दुःखी होता है।

ज्ञानीको वर्तमान अवस्थाका आश्रय नहीं है, परन्तु त्रिकाली स्वभावका आश्रय है। अपनी पर्यायके आश्रयसे भी धर्म नहीं होता, तब फिर परवस्तुके आश्रयसे धर्म या ज्ञान होता है–यह बात कहाँ रही ? अज्ञानी जीव अपने स्वभावका आश्रय छोड़कर परके आश्रयसे सुख मानता है, वह अधर्म है। तीन काल तीन लोकमें किसी द्रव्यको किसी अन्य द्रव्यका आश्रय नहीं है। अज्ञानी परका आश्रय मानता है,

परन्तु पर वस्तु उसे आश्रय नहीं देती। निमित्त या परके आश्रयसे कोई जीव सुखी नहीं होता, परन्तु परका आश्रय माननेवाला स्वयं दुःखी होता है। अपना द्रव्य अपने स्वभावसे परिपूर्ण नित्य परिणामी है, उस द्रव्यके आश्रयसे ही प्रत्येक जीवको सुख होता है। त्रिकाली पदार्थ स्वयं अपनी अवस्थारूपसे बदलता है, कहीं किसी दूसरे पदार्थकी अवस्था किसी दूसरे पदार्थरूप परिवर्तित नहीं होती इसलिये सर्व पर द्रव्योंसे भिन्न अपने ज्ञानस्वभावको स्वीकार करे तो धर्म हो।

(१२७) ज्ञानकी आत्माके साथ एकता और परसे भिन्नता

स्पर्श अचेतन है, उसमें किंचित् ज्ञान नहीं है, उस ही जड़-पुद्गलके साथ एकता है, और ज्ञानसे भिन्नता है। और ज्ञान चेतन है, वह परिपूर्ण ज्ञाता है, उसकी आत्माके साथ एकता है, और पुद्गलसे भिन्नता है। इसप्रकार जड़ पदार्थोंसे ज्ञान भिन्न है, इससे जड़के आश्रयसे ज्ञान नहीं है, परंतु आत्माके आश्रयसे ज्ञान है—ऐसा समझकर जड़का आश्रय छोड़कर आत्मस्वभावका आश्रय करे तो जड़को और आत्माको भिन्न जाना कहलाये।

(१२८) पर लक्ष्यसे भेदज्ञान नहीं होता, परन्तु स्वलक्ष्यसे होता है। धर्मी जीवको कैसा भेदज्ञान होता है?

आत्मा सर्व पर वस्तुओंसे भिन्न है—ऐसा कहते ही परकी अपेक्षा बिना अपने ज्ञानस्वभावसे आत्मा परिपूर्ण है—ऐसा सिद्ध होता है। परसन्मुख देखकर परसे भिन्नत्वका निर्णय नहीं होता, परन्तु अपने परिपूर्ण स्वभावके सन्मुख देखनेसे सर्व पर पदार्थोंसे भिन्नत्वका निर्णय होता है। जिसप्रकार सोनेको तांबेके संयोगकी अपेक्षासे देखें तो उसे ९८-९९ टंच आदि भेदसे कहा जाता है, परंतु तांबेके संयोगका लक्ष्य

छोड़कर अकेले सोनेको देखें तो सोना तो सौटंची ही है। सोने और तांबेका भेद जाननेवाला सोनेका ही मूल्य करता है, तांबेका नहीं। उसी प्रकार आत्मा अपने ज्ञानस्वभावसे परिपूर्ण है। पर संयोग और पर संयोगके लक्ष्यसे होनेवाले भावोंकी दृष्टिसे देखने पर ज्ञानमें अपूर्णता दिखाई देती है, परन्तु पर संयोग और रागादि भावोंकी अपेक्षा छोड़कर अकेले ज्ञानस्वभावको देखें तो वह परिपूर्ण ही है, उसमें अपूर्णता या विकार नहीं है। इस प्रकार स्व-परका भेद जाननेवाला धर्मात्मा रागादि भावों द्वारा, पर संयोग द्वारा या अपूर्ण ज्ञानके द्वारा आत्माका मूल्यांकन नहीं करता–(उनके जितना ही आत्माको नहीं मानता) परंतु उन रागादिसे भिन्न जो ज्ञानमात्र स्वभाव है उसीको आत्माका स्वरूप जानकर उसकी श्रद्धा करता है, उसीका आदर और आश्रय करता है। इससे उसे प्रतिक्षण धर्म होता है। जिसने रागसे भिन्न आत्माको नहीं जाना है वह रागको ही आत्माका स्वरूप मानता है और उसका आदर करता है; इससे उसे कभी भी धर्म नहीं होता।

(१२९) भेदविज्ञान और उसका फल मुक्ति

जैसे सोनेका पिण्ड जिस तिजोरीमें रखा हो वह तिजोरी और सोना भिन्न हैं, उसी प्रकार इस शरीरमें स्थित आत्मा वास्तवमें शरीरसे भिन्न ही है। और जिसप्रकार सोनेमें ताँबेका भाग है वह सोनेका स्वरूप नहीं है, उसी प्रकार आत्माकी अवस्थामें जो रागादि अशुद्ध भाव हैं वह आत्माका स्वरूप नहीं है। इस प्रकार रागादि रहित शुद्ध ज्ञानस्वभावसे आत्माको जाने–माने और उसमें स्थिर हो तो वीतरागता और केवलज्ञान हो। राग और आत्माके भेदविज्ञान बिना किसी भी प्रकारकी मुक्ति नहीं होती।

(१३०) नीतिपूर्वक पैसा कमानेका भाव धर्म है या पाप?

अनेक जीव ऐसा मानते हैं कि हमें व्यापार धंधेमें अनीति नहीं करना चाहिये, परन्तु नीतिसे पैसा कमाना चाहिये। इस नीतिको वे धर्म मानते हैं—अर्थात् पैसा भी कमायें और धर्म भी हो ! परन्तु इसमें धर्म नहीं है। पैसा कमानेका भाव पाप ही है, उसमें यदि अनीति न करे–नीति रखे तो कम पाप होता है; परन्तु धर्म नहीं होता। एक सरकारी अफसर ऐसा नीतिवान था कि उसे लाखों रुपयेकी लांच (रिश्वत) मिले, तो भी नहीं लेता था। एक बार उसने एक ज्ञानीसे पूछा–महाराज ! लोग मुझे पाँच-पाँच लाख रुपये रिश्वत देने आते हैं, लेकिन मैं नहीं लेता तो मुझे कितना धर्म होता होगा ? ज्ञानीने उत्तर दिया–उसमें किंचित् धर्म नहीं होता। नौकरी भले ही नीतिपूर्वक करो, लेकिन उसमें पैसा कमानेका भाव है इससे पाप ही है। रिश्वत आदि अनीति न करे तो कम पाप हो–इतना ही; बाकी उसमें धर्म तो हो ही नहीं सकता। स्व-परके भेदविज्ञान बिना धर्म कैसा ?

(१३१) आत्माके भान बिना वास्तवमें पाप घट ही नहीं सकता

व्यापार-धंधे आदिमें अनीति, चोरबाजारी करनेवालेको महान पाप है और नीतिपूर्वक करे तो अल्प पाप है। परन्तु वास्तवमें पाप कम हुआ कब कहलाता है ? जो पाप दूर हुआ वह फिर कभी न हो तो वह कम हुआ कहलाता है। ऐसा कब होता है ? मैं पाप और पुण्य रहित ज्ञानस्वरूप हूँ, मैं पापको कम करनेवाला सर्व पापोंसे रहित ही हूँ, पाप या पुण्य मेरा स्वरूप नहीं है–इस प्रकार अपने ज्ञानस्वभावके लक्ष्यसे जो पाप दूर हुआ सो हुआ; वह फिर कभी नहीं होगा। स्वरूपकी एकाग्रतासे क्रमशः पुण्य-पाप दूर होते होते सर्वथा वीतरागता हो जायेगी। पापको छोड़नेवाला स्वयं संपूर्ण पापरहित कैसा है ?

पापको छोड़कर स्वयं किस स्वरूपमें रहनेवाला है ? उसके भान बिना वास्तवमें पाप को नहीं छोड़ सकता। अर्थात् अपने आत्मस्वभावके लक्ष्य बिना वास्तवमें अनीति नहीं छोड़ सकता—ऐसा निश्चित हुआ।

(१३२) वास्तवमें आत्माके लक्ष्य बिना अनीतिका त्याग नहीं होता

लोग नीति नीति कहते हैं, परंतु यदि यथार्थरूपसे नीतिकी सीमा बाँधी जाये तो उसमें भी आत्मस्वभावका ही लक्ष्य आता है। किस प्रकार आता है ? वह कहते हैं :—किसीने ऐसा निश्चय किया कि 'मुझे अनीतिसे पैसा नहीं लेना है।' अब चाहे जैसे प्रसंग आये तो भी वह अनीति नहीं करेगा। देह जानेका प्रसंग आ जाने पर भी वह अनीति नहीं करेगा—अर्थात् शरीर छोड़कर भी नीति रखना चाहता है। शरीर कब छोड़ सकता है ? यदि शरीर छोड़ते समय श्रद्धामें डगमगाहट हो–द्वेष हो तो वास्तवमें उसका शरीर छोड़नेका भाव नहीं है, परंतु शरीर उसके अपने कारणसे छूटता है। शरीर छूटते समय अन्तरमें राग-द्वेष न हो अथवा अनीति करके शरीर रखनेका मन न हो तो नीतिके लिये शरीर छोड़ा कहलाये। अब, शरीर छोड़ते समय राग-द्वेष कम नहीं होता ? यदि शरीरके ऊपर ही लक्ष्य हो तब तो राग-द्वेष हुये बिना नहीं रहेगा। परन्तु शरीरसे भिन्न अपने आत्माको जानकर उसका लक्ष्य हो तो शरीरको राग-द्वेष बिना छोड़ सकता है। इसलिये 'मैं शरीरसे भिन्न हूँ, पैसा और अनीतिसे रहित मेरा ज्ञानस्वरूप है'—इस प्रकार अपने शुद्धस्वरूपके लक्ष्य बिना वास्तवमें अनीतिका त्याग नहीं हो सकता। आत्माके भान बिना जो अनीतिका त्याग करता है उसके वास्तवमें पाप दूर नहीं हुआ है, किन्तु वर्तमान पर्यंत मन्द कषाय है।

(१३३) जैनी–नीति

इस प्रकार आत्माकी पहिचान करनेमें ही सच्ची नीति आती है। यह जैनी–नीति' है। स्वतंत्र वस्तुस्वरूपको यथावत् जानना ही सच्ची नीति है।

पैसादिके आने–जानेकी क्रिया तो स्वतंत्र है; जीव इच्छा करता है, परन्तु परमें कुछ नहीं कर सकता। इस प्रकार वस्तुस्वरूप समझनेमें नीतिका पालन है और उससे विपरीत मानना–मैं परका कर सकता हूँ–ऐसा माननेमें अनन्ती अनीतिका सेवन है। इच्छासे परका कार्य भी नहीं होता और इच्छासे ज्ञान भी नहीं होता। इच्छा आत्माका स्वभाव नहीं है। ज्ञानका कार्य इच्छा नहीं है और इच्छाका कार्य परमें नहीं होता। प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि अपना प्राणोंसे भी प्यारा एक ही पुत्र हो, वह बिमार पड़ा हो तो, वहाँ वह निरोग हो जाय और उसकी मृत्यु भी न हो ऐसी अपनी तीव्रसे तीव्र आकांक्षा होती है तथापि वह मर जाता है। तेरी इच्छा परमें क्या कर सकती है ? सबसे निकट अपना शरीर है, उसमें भी अपनी इच्छानुसार कार्य नहीं होता। रोगकी इच्छा न होने पर भी शरीरमें रोग होता है और उस रोगको जल्दी मिटानेकी इच्छा होने पर भी वह उल्टा बढ़ता जाता है। इस शरीरका भी स्वयं कुछ नहीं कर सकता, तब फिर बाह्यका तो क्या करेगा ? मैं प्रमाणिकतासे पैसा कमा लूँ—ऐसी जिसकी मान्यता है वह अनीतिका सेवन करता है; जैनधर्मकी नीतिकी उसे खबर नहीं है। स्व-परका भेदज्ञान करना ही जैनीनीति है और उसका फल मुक्ति है।

(१३४) अनीतिका त्यागी

'मुझे अनीतिपूर्वक आजीविका नहीं करना है' इस प्रकार जो

अनीतिका त्याग करना चाहता है, उससे कोई कहे कि अमुक अनीति करो, नहीं तो प्रतिकूलता आयेगी, अथवा अनीति न करे तो प्राण लेनेकी धमकी दे, तथापि उससे अनीति नहीं होगी। उसी प्रकार जो प्रतिकूलता आये उस पर खेद भी न हो तो उसे अनीतिका त्याग किया कहा जाता है। यदि उसे प्रतिकूलता पर अरुचि आये तो नीतिके ऊपर ही अरुचि है, और उसने वास्तवमें अनीतिका त्याग नहीं किया है। जिसने शरीरको अपना माना है वह अनीति नहीं छोड़ सकेगा। इस प्रकार शरीरसे भिन्न आत्मस्वभावकी रुचिमें ही सच्ची नीतिका पालन और अनीतिका त्याग है। स्वभावके आश्रयसे तीनकालकी अनीति रुचिमेंसे छूट जानेके पश्चात् अस्थिरताके कारण जो राग-द्वेष होता है उसका भी स्वभावके आश्रयसे नाश करके वीतराग होगा; क्योंकि राग-द्वेष होता है, उसे परके कारण नहीं मानता और उस राग-द्वेषकी रुचि नहीं है; इससे उसका राग-द्वेष मर्यादित है।

(१३५) सच्चा ब्रह्मचर्य कौन पाल सकता है?

जिस प्रकार ऊपर नीतिके सम्बन्धमें कहा है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्यादिके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये। आत्माकी रुचिके बिना वास्तवमें अब्रह्मचर्यका त्याग नहीं होता। जिसे आत्माकी दृष्टि नहीं है और देह पर ही दृष्टि है उसे स्थायी ब्रह्मचर्य–सच्चा ब्रह्मचर्य नहीं होता। कोई सच्चा ब्रह्मचारी हो, उससे कोई कहे कि तू मेरे साथ अमुक दुष्कर्म कर, नहीं तो तुझ पर मिथ्या आरोप लगाकर तुझे मरवा डालूँगा;—इस प्रकार मरणका प्रसंग आये, तो अंतरमें खेद किये बिना शरीरका त्याग कर देगा, परन्तु अब्रह्मचर्यका सेवन नहीं करेगा। यदि उस प्रसंग पर अंतरमें खेद हो कि–अरे रे ! ब्रह्मचर्यके कारण मरण-प्रसंग आया; तो उसे वास्तवमें ब्रह्मचर्यकी रुचि नहीं है और उसने

अब्रह्मचर्यका त्याग नहीं किया है। मृत्यु आये, तथापि शरीर पर राग कब नहीं होता? जबकि शरीरसे भिन्न, राग-द्वेष रहित, त्रिकालस्वभावका लक्ष्य हो तो देहके प्रति ममत्वबुद्धिका राग दूर हो जाये। प्रथम तो ज्ञाता-दृष्टा आत्मस्वभावकी पहिचान करके श्रद्धाका दोष दूर करना चाहिये; श्रद्धाका दोष दूर होनेके पश्चात् अल्पकालमें क्रमशः चारित्रका दोष भी दूर हो जाता है।

(१३६) विकारको कौन दूर करता है?

जीवकी अवस्थामें जो रागादि विकार होता है वह परके कारण नहीं होता परन्तु अपनी ही अवस्थाकी निर्बलतासे होता है। यदि परके कारण रागादि माने तो स्वयं कभी उसे टालनेका प्रयत्न नहीं करेगा। परन्तु अपनी अवस्थाकी निर्बलतासे होता है—ऐसा जाने तो उस निर्बलताकी स्वभावकी शक्तिके साथ तुलना करेगा और इससे त्रिकालीस्वभावका आश्रय करके वह निर्बलता दूर करके वीतराग हो जायेगा।

(१३७) भेदविज्ञानीका ज्ञातापना

मैं चैतन्यमूर्ति चैतन्य हूँ; जो स्पर्श है वह मैं नहीं हूँ, और स्पर्शके कारण मेरा ज्ञान नहीं है—इस प्रकार जिसे स्पर्श रहित असंख्यप्रदेशी अरूपी चैतन्यस्वभावका भान है वह जीव स्पर्शादिके ज्ञानके समय स्वभावका आश्रय छोड़कर नहीं जानता; और स्पर्शादिके लक्ष्यसे जो राग-द्वेष होते हैं उनका भी स्वभावके आश्रयसे ज्ञाता ही है; स्वभावके आश्रयसे रागादि दूर होते जाते हैं। इच्छासे परद्रव्यमें कुछ नहीं होता, और उस इच्छाके कारण ज्ञान विकसित नहीं होता–ऐसा निर्णय होनेसे ज्ञानीको इच्छाका भी कर्तृत्व नहीं है। कर्तृत्व रहित इच्छा बिलकुल अपंग है, उस इच्छाका कुछ भी बल नहीं है, परन्तु

स्वभावकी ओरका ही बल बढ़ता जाता है, और इच्छा टूटती जाती है; इस प्रकार सम्पूर्ण वीतराग होकर मुक्ति प्राप्त करता है।

(१३८) अज्ञानीको बाह्यदृष्टिसे मिथ्याज्ञान और ज्ञानीको अंतर्दृष्टिसे सम्यग्ज्ञान

पहले तत्त्वका ज्ञान नहीं था और फिर हुआ; इससे ज्ञान बढ़ा। वह ज्ञान कहाँसे आया ? क्या स्वाध्यायमन्दिर आदि क्षेत्रमेंसे आया ? वाणीमेंसे आया ? शुभरागमेंसे आया ? या पूर्वकी अल्पदशामेंसे आया ? इनमेंसे कहींसे ज्ञान नहीं आया है, परन्तु त्रिकाली ज्ञानशक्तिमेंसे आया है। उस शक्तिके विश्वाससे सम्यग्ज्ञान होता है। अज्ञानी जीव, ज्ञान बढ़नेका कारण जो त्रिकाली शक्ति है उसे न देखकर बाह्य संयोग तथा रागको देखते हैं, और उनके आश्रयसे ज्ञान मानते हैं, वह अज्ञान है। वाणी श्रवण की इसलिये मुझे ज्ञान हुआ—ऐसा बाह्यसे मानते हैं। परन्तु अंतर् स्वभावमेंसे ज्ञान आता है, उस स्वभाव शक्तिको वे नहीं मानते। इस प्रकार अज्ञानीको बाह्य संयोगदृष्टि है और उसका सारा ज्ञान मिथ्या है, संसारका कारण है। ज्ञानीको अंतर स्वभावदृष्टि है और स्वभावके आश्रयसे उसका सारा ज्ञान सम्यक् है; वह सम्यक्ज्ञान मोक्षका कारण है।

[६]

(वीर सं. २४७४ भाद्रपद शुक्ला १, शनिवार)

(१३९) धर्म करनेवाले जीवको क्या जानना चाहिये?

आत्माका धर्म कहाँ होता है? यह जाने बिना किसी जीवको धर्म नहीं होता। आत्माका धर्म कहीं परमें नहीं होता परन्तु आत्माकी पर्यायमें होता है। अपने त्रिकाली ज्ञानस्वभावकी ओर जो पर्याय ढले, उसमें धर्म होता है। जिसे धर्म करना है उसे प्रथम यह तो स्वीकार करना ही चाहिये कि मैं आत्मा हूँ, मुझ में ज्ञानादि अनंत शक्तियाँ त्रिकाल है; और प्रति समय मेरी अवस्था बदलती रहती है। वह बदलती हुई अवस्था परका आश्रय करती है वह अधर्म है; और परका आश्रय छोड़कर रागरहित होकर स्वभावोन्मुख होकर वहाँ एकाग्र होनेसे जो दशा प्रगट होती है वह धर्म है और स्वभावमें परिपूर्ण एकाग्रता होनेसे पूर्णदशा–केवलज्ञान प्रगट होता है। वह केवलज्ञान जिन्हें प्रगट हुआ है ऐसे देव कैसे होते हैं? उनकी वाणीरूप शास्त्र कैसे होते हैं? और उस केवलज्ञानके साधक गुरु कैसे होते हैं? उनकी पहिचान धर्म करनेवाले जीवको प्रथम होनी ही चाहिये।

(१४०) अज्ञान है वह अधर्म, और सम्यग्ज्ञान धर्म

आत्मामें ज्ञानगुण त्रिकाल है, वह प्रति समय प्रगट होता है; उसकी अवस्था पाँच प्रकारकी हैं–मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान। उनमेंसे यहाँ मति-श्रुतज्ञानकी बात है। पाँच इन्द्रियाँ और मन द्वारा जो ज्ञान जाने उसे मतिज्ञान कहते हैं और इन्द्रियोंके बिना, मन द्वारा तर्कसे जो ज्ञान जानता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। यहाँ आचार्यभगवान ऐसा बतलाते हैं कि–यह ज्ञान पर लक्ष्यसे जाने तो वे

मिथ्यामति और मिथ्याश्रुत हैं,–वे अधर्म है, और स्वभावके लक्ष्यसे हों तो वे ज्ञान सम्यक्मति और सम्यक्श्रुत हैं,–यह धर्म है और यही मोक्षका कारण है।

श्री आचार्यदेवने पहले मतिज्ञान सम्बन्धी बात की है। भगवानकी दिव्यध्वनि है वह ज्ञान नहीं है, और उसके लक्ष्यसे होनेवाला मतिज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं है। शब्द, रूप, रस, गंध या वर्ण–सभी मतिज्ञानके विषय हैं, वे अचेतन हैं और उन शब्दादिके लक्ष्यसे होनेवाला ज्ञान भी अचेतन है। इन्द्रियों द्वारा शब्दादिके लक्ष्यसे जो मतिज्ञान होता है वह सम्यक् मतिज्ञान नहीं है परंतु मिथ्याज्ञान है, इससे वास्तवमें वह अचेतन है; क्योंकि वह ज्ञान त्रिकाली स्वभावके साथ एकता नहीं करता। त्रिकाली स्वभावके साथ एकता करके, स्वभावके लक्ष्यसे जो मतिज्ञान होता है वह सम्यक् मतिज्ञान है।

(१४१) ज्ञानीका सारा ज्ञान क्यों सम्यक् है? और अज्ञानीका क्यों मिथ्या है?

शब्द–रूपादि पाँच इन्द्रियोंके विषयोंको मतिज्ञान जानता है; उन शब्दादि विषयोंमें तो आत्मा नहीं है, उनमें ज्ञान या धर्म नहीं है; परंतु उन शब्दादिके लक्ष्यसे जो बोध हुआ उसमें भी सम्यक्त्व नहीं है; वह ज्ञान मिथ्या है, उसमें धर्म नहीं है, उसमें आत्मा नहीं है। मिथ्यारूप मति–श्रुतज्ञानपर्यायका विषय क्या है, और सम्यक्रूप मति–श्रुतज्ञानपर्यायका विषय क्या है? उसका यह वर्णन है। ज्ञानकी जो अवस्था स्त्री, शरीरादि अथवा देव-गुरु-शास्त्रादि परपदार्थोंके ही लक्ष्यसे जाननेका कार्य करे वह अज्ञान है, मिथ्या मति-श्रुत है। और जो ज्ञानस्वभावकी एकताके लक्ष्यसे जाने वह सम्यक्मति–श्रुतज्ञान है। ज्ञानीका ज्ञान जिस समय स्त्री आदिको या देव-गुरुको जानता हो उस

समय भी उनका ज्ञान त्रिकाली स्वभावकी एकतामें ही ढलता है, इसलिये उन्हें सम्यक्मति-श्रुतज्ञान है, और वह पर्याय भी प्रति समय वृद्धिको प्राप्त होती है। अज्ञानीको मिथ्याज्ञान क्यों है? त्रिकाली ज्ञानस्वभावरूप आत्मा है, उसकी एकताको छोड़कर जो ज्ञान पर लक्षसे इन्द्रिय और मनसे जाननेका कार्य करता है वह अज्ञान है। भगवानकी वाणीका श्रवण पर विषय है, वीतरागदेवकी मूर्ति भी पर विषय है, उसके लक्ष्यसे होनेवाला ज्ञान आत्माका स्वभाव नहीं है, इससे वास्तवमें वह चेतन नहीं है, वह राग है, कषाय है, अचेतन है। जो परलक्षी ज्ञान है उसके विश्वाससे जीवको धर्मदशा प्रगट नहीं होती।

(१४२) अपने सत्स्वभावकी बात

यह अपने सत्स्वभावकी बात है। जीवने अनंतकालमें अपने सत्स्वभावकी बात रुचिपूर्वक नहीं सुनी है और न अपने स्वभावकी सँभाल की है।

(१४३) धर्म प्रगट करनेकी आकांक्षा किसे होती है? और उसे किस प्रकार धर्म प्रगट होता है?

सोनेमें एक अवस्था बदलकर दूसरी अवस्था करनेकी इच्छा किसे होती है? जिसे सोनेके स्वभावसामर्थ्यकी प्रतीति है कि यह सोना वर्तमान कड़ारूप अवस्था जितना ही नहीं है, परंतु यह कड़ारूप दशा बदलकर कुंडलरूप दशा सोनेके अपने आधारसे प्रगट हो और सोना स्थायी रहे–ऐसा उसका स्वभाव है। ऐसी जिसे खबर और विश्वास हो उसे सोनेके कड़ेरूप अवस्था बदलकर कुंडलादि करनेकी इच्छा होती है। उसी प्रकार आत्मामें अधर्मदशा पलटकर धर्मदशा करनेकी आकांक्षा किसे होती है? सम्पूर्ण आत्मा अधर्मरूप नहीं हो गया है, परन्तु अधर्मदशा दूर करके धर्मदशारूप होनेकी शक्ति आत्मामें है।

अधर्मदशा दूर होकर धर्मदशा प्रगट होनेपर भी आत्मा ध्रुवरूपसे स्थायी रहता है। अधर्मका नाश होनेके साथ आत्माका नाश नहीं हो जाता;—इस प्रकार जिसे आत्माका नित्यत्व और अधर्मदशाकी क्षणिकता भासित हुये हों उसीको अधर्मदशाका नाश करके नवीन धर्मदशा प्रगट करनेकी आकांक्षा होती है। जिस जीवको इस प्रकार धर्मदशा प्रगट करनेकी इच्छा हुई है, उसे धर्म कैसे प्रगट होता है? वह बात यहाँ चल रही है।

यह आत्मा ज्ञानस्वभावी त्रिकाल है, उसका ज्ञान सर्वथा कूटस्थ नहीं है, परंतु प्रतिसमय परिणमित होता है। उसकी परलक्ष्यी मति-श्रुतज्ञान अवस्था, जिन स्पर्श–रसादि पर विषयोंको जानती है वे स्पर्शादि तो अचेतन हैं, उनसे ज्ञान नहीं होता।

दूसरी बात—उन स्पर्शादि पर विषयोंके लक्ष्यसे राग कम करके जो ज्ञान हुआ वह ज्ञान चैतन्यस्वभावमेंसे आया हुआ नहीं है–स्वभावके लक्ष्यसे हुआ नहीं है; त्रिकाली स्वभावके आधारसे बदलकर वह ज्ञानपर्याय नहीं हुई है परंतु राग कम होकर परके लक्ष्यसे हुई है, इससे वह सम्यग्ज्ञान नहीं है, उसमें आत्मा नहीं है और न वह ज्ञान धर्मका कारण है।

तीसरी बात—पर विषय या उनके लक्ष्यसे होनेवाली ज्ञानदशाकी प्रतीति करके बदलनेसे तो धर्म होता नहीं है।

जिसे धर्म करना हो उसे त्रिकाली स्वभावशक्तिके लक्ष्यसे पर्याय बदलकर त्रिकाली ज्ञानस्वभावकी प्रतीति करनेसे स्वलक्ष्यसे सम्यक् मति-श्रुतज्ञान होते हैं–वह धर्म है।

पाँच इन्द्रियोंके विषय (शब्दादि) अचेतन हैं, उनसे ज्ञान होता है—ऐसा जो मानता है वह अज्ञानी है। स्वभावसे च्युत होकर पाँच

इन्द्रियोंके विषयोंके लक्ष्यसे जो मतिज्ञान होता है वह भी अज्ञान है । अंशतः राग कम करके पर लक्ष्यसे जो ज्ञान विकसित हुआ वह भी अज्ञान है। यदि उसीको आत्मा माने तो धर्म नहीं होता। परंतु उसका लक्ष्य छोड़कर त्रिकाली स्वभावकी अंतर्मुखदृष्टि करके ज्ञानस्वभावोन्मुख होनेसे जो ज्ञानदशा होती है वह सम्यक् मतिज्ञान है;—यह ज्ञान मोक्षका कारण होता है।

(१४४) सफल अवतार

अहो, यह आत्माके स्वभावकी अपूर्व बात है। इस समय प्रमाद दूर करके आत्माकी जागृति करनेका समय है। मनुष्यत्व पाकर भी अनेक जीवोंका अधिकांश काल तो प्रमादमें चला जाता है; धर्मके नाम पर भी प्रमादमें और हँसी–मजाकमें समय जाता है। यदि इस जीवनमें आत्माकी जागृति करके सत्स्वभाव नहीं समझा तो अवतार व्यर्थ है। और यदि अपूर्व रुचिपूर्वक आत्माका सम्यग्ज्ञान प्रगट कर ले तो उसका अवतार निष्फल नहीं परन्तु केवलज्ञान दशाको जन्म देनेके लिये उसका सफल अवतार है।

(१४५) साधकको कौनसा ज्ञान मोक्षका कारण होता है ? (ज्ञानीके ज्ञानकी प्रमाणता)

पर पदार्थोंके सन्मुख होनेवाले मति-श्रुतज्ञानको स्वभावसन्मुख करनेके लिये यह अधिकार है। अवधि और मनःपर्यय ज्ञान तो पर विषयोंको ही जानता है, उसकी यहाँ पर बात नहीं है। जो मति-श्रुतज्ञान आत्माके स्वभावकी ओर ढले वह मोक्षका कारण होता है। साधक जीवको क्षायिक ज्ञानका तो अभाव है, परन्तु स्वभावोन्मुख हुआ उनका ज्ञान क्षायोपशमिक भावरूप होनेपर भी वह विशिष्ट भेदज्ञानरूप सम्यक् मति-श्रुतज्ञान मोक्षका कारण होता है। स्वभावके ओरकी विचारश्रेणीमें

ज्ञानियोंको अंतरमें जो सहज न्याय प्रगट होते हैं वे यथार्थ होते हैं और वे ही न्याय शास्त्रोंमेंसे निकल आते हैं।

(१४६) ज्ञानमें जिसकी महिमा भासित हो वहाँ ज्ञान एकाग्र होता है; स्वभावकी महिमा ही शांतिका उपाय है।

धर्मात्मा जीव आत्माके स्वभावको कैसा जानते हैं–उसकी यह बात चल रही है। जिसे धर्म करना हो उसे अपने ज्ञानमें आत्माका यथार्थ मूल्यांकन करना होगा। ज्ञानमें जिसकी महिमा लगे, उसमें ज्ञान एकाग्र होता है। यदि परकी महिमा करके ज्ञान वहाँ एकाग्र हो तो वह अधर्म है; और आत्माकी महिमा समझकर वहाँ ज्ञान एकाग्र हो तो वह धर्म है। जिस प्रकार—जिन जीवोंको विषयोंमें या लक्ष्मी आदिमें सुखबुद्धि हुई है वे वहाँ एकाग्र होते हैं–जीवनको जोखममें डालकर भी वे विषयोंमें कूद पड़ते हैं, क्योंकि उन्हें ज्ञानमें उनकी महिमा भासित हुई है। उसी प्रकार आत्माका ज्ञानस्वभाव अनन्त सुखस्वरूप है, परसे भिन्न है—उस स्वभावकी महिमा यदि ज्ञानमें आये तो सबकी दरकार छोड़कर ज्ञान अपने स्वभावमें स्थिर हो और सच्ची शांति प्रगट हो,—इसका नाम धर्म है। परंतु यदि ज्ञानमें ज्ञात होनेवाले शब्दादि पदार्थ या उन्हें जाननेवाले अल्पबोध जितना ही आत्माका मूल्याङ्कन करे तो वह ज्ञान पर विषयोंमें और पर्यायबुद्धिमें ही रुक जायेगा, परन्तु वहाँसे हटकर पूर्ण स्वभावकी ओर नहीं बढ़ेगा और शांति प्रगट नहीं होगी।

हे भव्य ! तुझे आत्माकी शांति प्रगट करना है, तो वह शांति पर वस्तुमेंसे नहीं आयेगी, पर वस्तुओंके सन्मुख देखनेसे नहीं आयेगी, विकार या क्षणिक पर्यायके सन्मुख देखनेसे भी वह शांति नहीं आयेगी; परंतु उन सबके लक्ष्यको छोड़कर अपनी वर्तमान अवस्थाको त्रिकाली

ज्ञानस्वभावमें एकाकार कर, तो त्रिकाली स्वभावके आश्रयसे अवस्थामें परिपूर्ण शांति प्रगट होगी।

(१४७) भेदज्ञान करे तो भवका अन्त आये

शब्दादि विषयोंमें किंचित् ज्ञान नहीं है; इससे उनसे तो आत्मा बिलकुल पृथक् ही है और आत्मामें परिपूर्ण ज्ञान है–आत्मा और ज्ञान किंचित् भिन्न नहीं हैं;—ऐसा भेदज्ञान करके स्वभावोन्मुख हो तो स्वभावके आश्रयसे जीवको सम्यक्मति श्रुतज्ञान प्रगट हो, और अल्पकालमें भवका अन्त आये। इसके अतिरिक्त जो मति-श्रुतज्ञान पर लक्ष्यसे ही कार्य करे वह मिथ्याज्ञान है। स्वलक्ष्यसे सम्यग्ज्ञान प्रगट किये बिना कोई जीव कषाय कम करे तो उसे पापानुबंधी पुण्यका बंध होता है और साथ ही साथ उसी समय, सम्पूर्ण आत्मस्वभावके अनादररूप मिथ्यात्वसे अनंत पापबंध होता है और अनंत भव बढ़ते हैं।

(१४८) चेतन स्वभावके साथ जिसकी एकता नहीं है वह ज्ञान अचेतन है

त्रिकाली आत्मस्वभावको भूलकर वर्तमान जितने परका अथवा उसे जाननेवाले क्षणिक ज्ञानका ही मूल्य भासित हो और उसीको आत्माका स्वरूप माने, उस ज्ञानको आचार्यदेव 'आत्मा' नहीं कहते परंतु 'जड़' कहते हैं। जो ज्ञान चेतन स्वभावके साथ एकता न करे और परमें एकता करे उसे चेतन नहीं कहते, परंतु अचेतन कहते हैं। त्रिकाली स्वभावमें ढलनेसे जो ज्ञान प्रगट हो और स्वभावमें अभेद हो वह चेतन है, वही आत्मा है। ज्ञानकी जो अवस्था त्रिकाली चैतन्यमें अभेदताको प्राप्त हुई वह चेतन है, सम्यग्ज्ञान है। परंतु जो ज्ञान मात्र परको जाननेमें ही रुका है वह मिथ्याज्ञान है, उसे यहाँ पर अचेतन

कहते हैं; क्योंकि वह आत्माका स्वरूप नहीं है। वर्तमान वर्तती अवस्था यदि स्थायी ज्ञानस्वभावके साथ एकताको प्राप्त न हो और दया-उपदेश श्रवण आदिके रागमें ही रुका रहे तो चैतन्यके परिणमनके त्रिकाली प्रवाहमें भेद पड़ता है, द्रव्य-पर्यायमें भेद पड़ता है, इससे वह अवस्था मिथ्याज्ञानरूप है।

(१४९) आत्माका पूर्णानन्द किसे प्रगट होता है?

जिस प्रकार—सोनेकी एक अवस्था बदलकर दूसरी नवीन अवस्था सोनेके अपने आधारसे होगी, और सोना इतना ही रहेगा, सोनेका नाश नहीं होता–इस प्रकार स्थायी सोनेका और उसके आधारसे प्रगट होनेवाली नवीन दशाका जिसे विश्वास है, उसीको एक गहना बदलवाकर दूसरा गहना बनवानेकी इच्छा होती है। उसी प्रकार जिसे त्रिकाली पूर्ण आत्मस्वभावका ज्ञानमें विश्वास है और उस स्वभावके आश्रयसे ही नवीन नवीन निर्मल दशाएँ प्रगट होती हैं–ऐसा विश्वास है, उस जीवको अशुद्ध दशा दूर करके निर्मलदशा प्रगट करनेकी आकांक्षा होती है, अर्थात् जिसका ज्ञान त्रिकालीस्वभावकी ओर उन्मुख हुआ है उसीको निर्मल पर्याय प्रगट करनेका पुरुषार्थ होता है। मेरा आनंद या शांति कहीं बाह्यमें तो नहीं है, इससे यदि मेरा ज्ञान बाह्य विषयोंमें फिरता रहे तो उस ज्ञानमें भी शांति नहीं है; मेरा त्रिकालीस्वभाव ही ज्ञान और शांतिका भण्डार है; इससे यदि आपने ज्ञानको स्वभावमें एकाग्र करूँ तो उस स्वभावमेंसे ही आनंद और शांतिका अनुभव हो–इस प्रकार अंतर्मुख होकर अपने स्वभावका विश्वास करे तो आत्मामें निर्मलता प्रगट करनेकी इच्छा हो; इससे आत्माकी रुचि–शांति–सम्यक्त्व–सम्यग्ज्ञान–सम्यक्चारित्र–केवलज्ञानादि शुद्धदशाएँ क्रमशः प्रगट हों। प्रथम रुचि और प्रतीतिमें

आत्मस्वभावका विश्वास करके मति-श्रुतज्ञानको उस स्वभावकी ओर उन्मुख करनेसे सुखका अंश प्रगट होता है, विकारका अंश दूर होता है। पहले अनंत परद्रव्योंमें एकता करके जो ज्ञान रुकता था वह ज्ञान अब अनंतगुणसे परिपूर्ण आत्मस्वभावकी महिमामें लीन हुआ, इससे अनंत विकार दूर होकर अनंत शांति प्रगट हुई,—अपूर्व आत्मधर्म प्रगट हुआ। अब क्रमशः वह ज्ञानस्वभावमें पूर्ण लीन होनेसे पूर्ण आनंद प्रगट होगा।

(१५०) मति-श्रुतज्ञानको स्वभावसन्मुख करना वह मुक्तिका उपाय है

धर्म करनेवाले जीवको वर्तमान अवस्था बदलकर नवीन शुद्धदशा प्रगट करना है; वह अवस्था कहाँसे आती है? जिसमें शक्तिरूप विद्यमान हो उसमेंसे अवस्था प्रगट होती है। त्रिकालीस्वभाव शुद्धताका भण्डार है, उसकी श्रद्धा करके एकाग्र हो तो पर्यायमें शुद्धता प्रगट हो। परन्तु यदि त्रिकाली सामर्थ्यका विश्वास न करे और भगवानके लक्ष्यसे होनेवाले राग जितना या दयादि भावों जितना ही आत्माको माने अथवा राग कम होकर पर लक्ष्यसे जो ज्ञानका विकास हुआ है उस ज्ञान जितना आत्माको माने तो उसके आधारसे ज्ञानकी शुद्धता प्रगट नहीं होगी; इससे उस जीवको मिथ्या मति-श्रुतज्ञान ही रहेंगे। यदि पूर्णस्वभावका विश्वास करके उसके आधारसे ज्ञान परिणमित हो तो सम्यक्मति-श्रुतज्ञान हो, वह मोक्षका कारण है। केवलज्ञान तो साधकदशामें होता नहीं है, अवधि–मनःपर्यय ज्ञानका विषय मूर्त पदार्थ हैं, वे ज्ञानस्वभावकी ओर नहीं ढलते इससे वे मोक्षके कारण नहीं हैं। इस समय तो स्वभावकी ओर ढलते हुये सम्यक्मति–श्रुतज्ञान मोक्षके कारण हैं, इससे इन पन्द्रह गाथाओंमें पर सन्मुख

होनेवाले मति-श्रुतज्ञानको वहाँसे हटाकर स्वभावसन्मुख करनेकी रीति आचार्यभगवानने समझाई है।

(१५१) भेदविज्ञान प्रगट होनेसे पहलेकी पात्रता

इस जगतमें सर्वज्ञदेव हैं, उनकी वाणी है, श्रुत है, इस जीवको अपूर्णज्ञान है, पर लक्ष्यसे श्रवणादि है, उसमें इन्द्रिय-मन निमित्तरूप हैं, राग है,–इस प्रकार सभीके अस्तित्वका स्वीकार तो इसमें आ ही जाता है। जिसे अभी यह बात भी न बैठे, और 'सब मिलकर एक आत्मा है, आत्माके अतिरिक्त अन्य सब सर्वथा असत् है'—ऐसा माने उस जीवको तो तीव्र अज्ञान है। ऐसे जीवको तो भेदविज्ञान प्रगट करनेकी पात्रता ही नहीं है। इस जगतमें अनंत पृथक् पृथक् आत्मा हैं और जड़ वस्तुएँ भी हैं, उन प्रत्येक में अनन्तगुण हैं, उनमें प्रतिसमय परिणमन होता है। आत्माके ज्ञानकी मति–श्रुतादि अवस्थाएँ होती हैं, उनमें सम्यक् और मिथ्या दो प्रकार हैं। पूर्णज्ञान प्रगट करनेवाले देव हैं, उस पूर्णज्ञानके साधक गुरु हैं, उनकी वाणीरूप श्रुत है। इस प्रकार सब जानकर, मिथ्या देव-गुरु-शास्त्रकी श्रद्धा-बहुमान छोड़कर सच्चे देव-गुरु-शास्त्रकी श्रद्धा-बहुमान करे तब तो अभी निमित्तोंका विवेक किया, रागकी दिशा बदली, तथापि अभी तक परलक्ष्यी मिथ्याज्ञान है। यदि अपने ज्ञानस्वभावकी ओर ढलकर, निमित्तोंकी ओरके रागका और परलक्ष्यी ज्ञानका निषेध करे तो अपूर्व भेदविज्ञान प्रगट होता है और देव-गुरु-शास्त्रकी ओरके रागको व्यवहार कहा जाता है।

(१५२) वास्तवमें व्यवहार कब होता है?

धर्मका प्रारंभ कैसे हो उसकी यह बात है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र धर्मके निमित्त हैं। उन निमित्तोंको पहिचान कर कुदेवादि मिथ्यात्वके निमित्तोंकी मान्यता छोड़े, उस जीवको देव-गुरु-शास्त्रके

लक्ष्यसे जो मति-श्रुत ज्ञान हो वह भी अभी मिथ्या मति-श्रुत है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्रको स्वीकार किया उसने अभी तो व्यवहारसे व्यवहारको माना है। निश्चयस्वभावके भान सहित जो व्यवहार हो वही सच्चा व्यवहार है, परंतु निश्चयस्वभावके भान रहित व्यवहार वास्तवमें व्यवहार नहीं किन्तु व्यवहारसे व्यवहार है। यदि त्रिकालस्वभावकी प्रतीति प्रगट करके उस व्यवहारका निषेध करे तो, जिसका निषेध किया उसे निश्चयपूर्वकका व्यवहार कहा जाता है; और स्वभावके भानपूर्वक उसे जाने तो वह ज्ञानमें व्यवहारनय है; परंतु रागको ही आदरणीय माने अथवा अकेले रागके लक्ष्यसे ही उसे जाने तो वह ज्ञान मिथ्याज्ञान है, उसे व्यवहार भी नहीं कहा जाता।

(१५३) भगवान होनेकी रीति

सच्चे देव-गुरु-शास्त्रकी श्रद्धा, दया-भक्ति इत्यादि शुभ परिणाम तथा द्रव्य-गुण-पर्यायकी या नवतत्त्वकी भेदसे श्रद्धा—वह सब व्यवहार है और उसकी ओर ढलनेवाला ज्ञान मिथ्याज्ञान है। वह व्यवहार और उस ओर ढलनेवाला ज्ञान मेरा स्वरूप नहीं है; एकरूप ज्ञायकस्वभाव है वह मैं हूँ—इस प्रकार मति-श्रुतज्ञानको स्वभावमें ढालकर व्यवहारसे पृथक् हो और स्वभावमें एकता करे तब प्रमाणज्ञान होता है और उस जीवके मति-श्रुतज्ञान वह सम्यग्ज्ञान है। यह मति-श्रुतज्ञान भी अतीन्द्रिय है वह केवलज्ञानका कारण है। यह आत्मा स्वयं भगवान कैसे होता है? उसकी यह रीति है।

(१५४) वस्तुस्वभाव वाणी या विकल्पगम्य नहीं है परन्तु ज्ञानगम्य है

जैसा वस्तुका स्वभाव है वैसा ज्ञानमें जाननेमें देर नहीं लगती, परन्तु विकल्पसे जाननेमें या वाणी द्वारा कहनेमें देर लगती है। वाणीसे

कहनेमें जितनी देर लगती है उतनी देर ज्ञानसे समझनेमें नहीं लगती; क्योंकि वस्तुस्वभाव वाणी या विकल्पगम्य नहीं है परन्तु ज्ञानगम्य है। जिस प्रकार लड्डू तैयार करनेमें देर लगती है, परन्तु लड्डूका स्वाद लेनेमें देर नहीं लगती। उसी प्रकार पहले विकल्पसे चैतन्यस्वभाव समझनेमें देर लगती है, परन्तु स्वभावोन्मुख होकर, विकल्प तोड़कर श्रुतज्ञानसे अनुभव करे तो उसमें देर नहीं लगती। इसलिये वाणी और विकल्पका लक्ष्य-आश्रय छोड़कर मति-श्रुतज्ञानको स्वभावसन्मुख करना वह आत्माके अनुभवका उपाय है, और वही धर्म है। त्रिकाल चैतन्यस्वभाव है वह आत्मा है; मति-श्रुतज्ञान जितना आत्मा नहीं है– ऐसा समझकर पर्यायदृष्टि छोड़कर अंतरस्वभावमें जो मति-श्रुतज्ञान ढले उस ज्ञानको यहाँ आत्मा कहा है, क्योंकि वह ज्ञान आत्माके साथ अभेद होता है। स्वभावोन्मुख होनेसे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रकी शुद्धता प्रति समय बढ़ती जाती है, उसका वर्णन इस सर्वविशुद्धज्ञान अधिकारमें है।

शब्द ज्ञान नहीं है, स्पर्श ज्ञान नहीं है, इस प्रकार पाँच इन्द्रियोंके जो विषय हैं वे ज्ञान नहीं हैं, और उन शब्दादि विषयोंके अवलम्बनसे जो ज्ञान होता है वह आत्मा नहीं किन्तु अचेतन है अर्थात् पर लक्ष्यसे होनेवाला जो मतिज्ञान है वह मिथ्याज्ञान है–इस प्रकार मतिज्ञानकी बात की है। अब, श्रुतज्ञान सम्बन्धी बात करते हैं।

* कर्मसे ज्ञानका भिन्नत्व *

'कर्म ज्ञान नहीं है; क्योंकि कर्म अचेतन है; इसलिये ज्ञानका और कर्मका व्यतिरेक है।' कर्म सूक्ष्म पदार्थ है वह इन्द्रियोंका विषय नहीं है, इससे इन्द्रिय-मतिज्ञानसे वह ज्ञात नहीं होता, परंतु मन द्वारा होनेवाले मति पूर्वक श्रुतज्ञानसे वह ज्ञात होता है।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ-३६४२५०

(१५५) ज्ञान किसे कहा जाये?

वे कर्म तो अचेतन हैं, उनमें ज्ञान नहीं है; और उन अचेतन कर्मोंके लक्ष्यसे जो ज्ञान होता है वह भी यथार्थ ज्ञान नहीं है। यहाँ आचार्य भगवान ऐसा समझाते हैं कि शब्द, रूप तथा कर्म आदि पर पदार्थोंके लक्ष्यसे ज्ञानका जो विकास होता है अथवा कषाय मन्द होती है वे दोनों आत्मा नहीं हैं–ज्ञान नहीं हैं किन्तु अचेतन हैं; उनसे धर्म नहीं होता। त्रिकाल आत्मस्वभावके साथ एकता करके जो ज्ञानअवस्था प्रगट हो वही सच्चा ज्ञान है, उससे धर्म होता है।

आत्मामें क्रोधादि विकार होता है; वे क्रोधादि आत्माका स्वभाव नहीं हैं, इससे उन भावोंमें कोई अन्य पदार्थ निमित्तरूप होता है; वह पदार्थ कर्म है;–इसप्रकार युक्तिसे और आगमके कथनसे श्रुतज्ञान द्वारा कर्मोंको मानना चाहिये। जो कर्मादिका अस्तित्व ही नहीं मानते उन जीवोंकी यहाँ बात नहीं है; लेकिन यहाँ तो कहते हैं कि आत्माका आश्रय छोड़कर जो ज्ञान कर्मको जाननेमें रुके वह अचेतन है। कर्मके लक्ष्यसे जो कर्मको जाननेका विकास हुआ वह आत्माका स्वभाव नहीं है। कर्म मुझे बाधक होते हैं–ऐसा जिसने माना है उसका कर्मको जाननेवाला ज्ञान अचेतन है।

(१५६) कर्मका ज्ञान मोक्षका कारण नहीं है, परंतु आत्मस्वभावका ज्ञान मोक्षका कारण है

अज्ञानी कहते हैं कि पहले आत्माका नहीं किन्तु कर्मका ज्ञान करना चाहिये। यहाँ आचार्य भगवान कहते हैं कि, कर्मके ज्ञान पर धर्मका माप नहीं है। कर्मको जाननेसे धर्म नहीं होता। मंद कषायसे कर्मके लक्ष्यसे जो ज्ञान हो वह भी मिथ्या श्रुतज्ञान है, इससे अचेतन है। कर्मको तथा उसका कथन करनेवाले केवली भगवानको, गुरुको

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

और शास्त्रको माने वहाँ तक भी मिथ्याश्रुत है क्योंकि उस ज्ञानने परका आश्रय किया है; उस ज्ञानने स्वभावमें एकता नहीं की है परन्तु रागमें और परमें एकता की है। स्वभावमें एकता नहीं है, परन्तु विकारमें एकता है इससे क्रमशः विकार बढ़कर वह ज्ञान अत्यन्त हीन होकर निगोददशा होगी, परन्तु वह ज्ञान आत्मामें एकता करके केवलज्ञानकी ओर नहीं ढलेगा। पूर्ण चैतन्यस्वभावका आश्रय करके जो श्रुतज्ञान होता है वह आत्मामें एकता करके, क्रमशः वृद्धि प्राप्त कर केवलज्ञान प्रगट करता है।

आठों प्रकारके कर्म अचेतन हैं और उन अचेतनके लक्ष्यसे होनेवाला ज्ञान भी अचेतन है। आत्मा परिपूर्ण चैतन्यस्वरूप है, उसके द्रव्य-गुण तो त्रिकाल एकरूप हैं, उसमें कर्मकी अपेक्षा नहीं है; परंतु वर्तमान पर्यायमें एक समय पर्यंतका विकार है, उसमें कर्म निमित्तरूप है, इससे विकारका और कर्मका एक समय पर्यंतका निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। जिस प्रकार सोनेके साथ हथौड़ीका संबंध नहीं है; हथौड़ा कहीं सोनेको उत्पन्न करनेमें निमित्त नहीं है, परन्तु सोनेकी अवस्थाका घाट (आकार) होता है उसमें वह निमित्तरूप है। निश्चयसे तो उस आकारका कारण सोना ही है, परन्तु व्यवहारसे उस आकार और हथौड़ीका निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। उसी प्रकार आत्मामें त्रिकाली द्रव्य-गुणके साथ कर्मका सम्बन्ध नहीं है परन्तु वर्तमान अवस्थाके साथ ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध है—ऐसा जानना चाहिये। परन्तु यदि कर्मका लक्ष्य रखकर ही ऐसा जाने तो सम्यक् श्रुतज्ञान नहीं होता अर्थात् धर्म नहीं होता। त्रिकाली चैतन्यस्वभाव कर्मसे और रागसे भिन्न है, क्षणिक पर्याय जितना भी नहीं है—ऐसा जानकर उस स्वभावके साथ एकता करनेसे जो ज्ञान हो वह सम्यग्ज्ञान है। वह ज्ञान कर्मको जानते समय अपने ज्ञानस्वभावके साथ एकता रखकर जानता है इससे उस

समय भी उसे शुद्धताकी ही वृद्धि होती है;–इसका नाम धर्म है। ऐसा स्वभावोन्मुख होता हुआ ज्ञान ही इस आत्माको मुक्तिका कारण है; उस ज्ञानसे ही यह आत्मा स्वयं भगवान–परमात्मा होता है।

(१५७) विवेक

अहो, एक मक्खी भी मिश्री और फिटकरीके स्वादका विवेक करके, फिटकरीको छोड़ती है और मिश्रीका स्वाद लेनेके लिये चोंटती है; तो फिर जिसे अपना कल्याण करना है ऐसे जीवको, अपना त्रिकाली स्वभाव क्या है और विकार क्या है—इसका बराबर विवेक करना चाहिये। त्रिकालीके लक्ष्यसे शांति होती है और क्षणिक पर्यायके लक्ष्यसे आकुलता होती है—इस प्रकार उन दोनोंका भेद जानकर, यदि पर्यायसे हटकर त्रिकाली स्वभावकी ओर श्रुतज्ञान उन्मुख हो तो स्वभावके आनन्दका स्वाद आये, और चाहे जैसे प्रतिकूल संयोगके समय भी वह ज्ञानस्वभावकी एकताको न छोड़े।

(१५८) कौनसा ज्ञान आत्माके साथ अभेद होता है?

कर्म अचेतन है, उसमें ज्ञान नहीं है, वह कुछ जानता नहीं है; उस कर्मके लक्ष्यसे जो पुण्य-पाप हो अथवा जो ज्ञान हो उस ज्ञानकी एकता आत्माके साथ नहीं है परंतु कर्मके साथ है—इससे वह मिथ्या है, अचेतन है; उसका और आत्मस्वभावका भिन्नत्व है।

अहो ! आचार्यदेव कहते हैं कि—त्रिकाल चैतन्यस्वभावमें ढलते हुये और पर लक्ष्यकी ओर ढलते हुये ज्ञानमें भिन्नता है; दोनों ज्ञानधाराएँ पृथक् हैं। जो ज्ञान परका विचार छोड़कर स्वभावके ओरकी एकता करे वह आत्माके साथ अभेद है, वह सम्यग्ज्ञान है; उस ज्ञानको यहाँ आत्मा ही कहा है। ऐसा सम्यग्ज्ञान प्रगट होनेके पश्चात् भी ज्ञानका

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ-३६४२५०

जो अंश परोन्मुख होता है उसे और स्वभावोन्मुख होते हुये ज्ञानको व्यतिरेक है–भिन्नता है। जिस धर्मात्माके ऐसा सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ है उसे प्रति समय स्वके ओरकी ज्ञानधारा बढ़ती जाती है और परके ओरकी ज्ञानधारा घटती जाती है; जब कर्मको जानता हो उस समय भी उसे स्वभावमें ज्ञानकी एकता बढ़ती जाती है और परके ओरकी ज्ञानकी उन्मुखता कम होती जाती है।

(१५९) अधर्म और धर्म

अभी जिसके सच्चे देव-गुरु-शास्त्रकी श्रद्धाका भी पता नहीं है वह तो तीव्र अधर्मी है। यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि जिसने तीव्र अधर्मरूप गृहीत मिथ्यात्वको तो छोड़ दिया है और सच्चे देव-गुरु-शास्त्रको ही मानता है, तथा श्रुतज्ञानके तर्कको कर्मकी ओर ढालकर ज्ञानको वहीं स्थिर कर दिया है, किन्तु वहाँसे हटाकर स्वभावकी ओर नहीं ढालता वह जीव मिथ्या श्रुतज्ञानी है, अधर्मी है, उसके ज्ञानको हम अचेतन कहते हैं। चैतन्य स्वभावोन्मुख होनेसे जो ज्ञान होता है वह चैतन्यस्वरूपमें स्थिर होता है, उसे हम चेतन कहते हैं; वही धर्म है।

प्रथम पूर्ण ज्ञानस्वभावकी श्रद्धा करके उसमें ज्ञानकी एकता करके पश्चात् उसीके आश्रयसे पूर्णतया परिणमित होनेसे जिसे पूर्णज्ञानदशा प्रगट हुई है वह देव है; स्वभावको श्रद्धा-ज्ञान करके पूर्णताकी ओर ढले वह गुरु है और पूर्णताका उपाय बतलानेवाली उसकी वाणी शास्त्र है। ऐसे देव-गुरु-शास्त्रकी ओरका लक्ष्य करके जो रुका है वह भी मिथ्याज्ञानी है; क्योंकि उसकी बुद्धि चैतन्यकी ओर नहीं है। और जो कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्रको सत्य मानता है उसे तो आत्माके धर्मकी पात्रता ही नहीं है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्रका विवेक

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ-३६४२५०

करके, स्व-परका यथार्थ भेदज्ञान करे उसीको धर्म होता है। परोन्मुखतासे हटकर स्वभावोन्मुख होकर स्वभावमें ज्ञानकी एकता करनेके पश्चात् वह धर्मी जीव परको जाने उस समय भी उसे सर्व सम्यग्ज्ञान ही है। परको जानते समय भी स्वभावके आश्रयसे ज्ञानकी एकता बढ़ती जाती है, क्योंकि उस समय भी स्वभावकी एकता छोड़कर ज्ञान नहीं जानता।

(१६०) निश्चय और व्यवहारका सच्चा ज्ञान कब होता है?

मति-श्रुतज्ञानको स्वभावोन्मुख करके द्रव्यमें एकता करे वह निश्चय है और स्वभावकी एकतापूर्वक सच्चे देव-गुरु-शास्त्रकी प्रतीति व्यवहार है। व्यवहारको जाननेसे जो ज्ञान व्यवहारमें ही रुका रहे वह ज्ञान व्यवहारसे पृथक् नहीं हुआ है, अर्थात् उसने निश्चय और व्यवहारको पृथक् नहीं जाना है, इससे वहाँ व्यवहार भी सच्चा नहीं होता। ज्ञान व्यवहारको जानता अवश्य है, परंतु व्यवहार-ज्ञान जितना आत्मा नहीं है—ऐसा समझकर व्यवहारसे पृथक् होकर अखण्ड ज्ञानस्वभावकी ओर उन्मुख हो तब श्रुतज्ञान प्रमाण होता है और तभी निश्चय-व्यवहार दोनोंका सच्चा ज्ञान होता है।

जीवका जो श्रुतज्ञान सच्चे देव-गुरु-शास्त्रको जाने उस श्रुतज्ञान जितना ही जो आत्माको माने और उसी पर ध्यान रखा करे परंतु त्रिकाली ज्ञानस्वभावकी ओर न ढले तो वह श्रुतज्ञान मिथ्या है। उसे निश्चय और व्यवहार पृथक् नहीं रहे किन्तु क्षणिकको ही त्रिकालीरूप मान लिया, अर्थात् व्यवहारको ही निश्चय मान लिया, उसे निश्चय-व्यवहारका सच्चा ज्ञान नहीं है। त्रिकालीस्वभावका आश्रय करके जो ज्ञान ऐसा स्वीकार करे कि—इन देव-गुरु-शास्त्रसे मैं पृथक् हूँ और उन्हें जाननेवाला जो क्षणिक ज्ञान है उतना भी नहीं हूँ'—तो वह

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

सम्यग्ज्ञान है और उसे त्रिकाली स्वभावका तथा वर्तमान पर्यायका यानी निश्चय-व्यवहारका सच्चा ज्ञान है।

(१६१) ज्ञानकी क्रिया धर्म है

यह धर्मकी बात है; इसमें अकेले ज्ञानकी क्रियाकी बात है। आत्मा शरीरादिसे तो भिन्न ही वस्तु है, इससे आत्माके धर्ममें शरीरकी क्रिया कारणरूप नहीं है, शरीरकी क्रियाके साथ आत्माके धर्मका या अधर्मका संबंध नहीं है, परंतु ज्ञानकी क्रियामें धर्म-अधर्म है। अपने पूर्ण ज्ञानस्वभावको स्वीकार करके उसके आश्रयसे ज्ञानकी जो क्रिया होती है वह धर्म है। और स्वभावको भूलकर क्षणिक ज्ञान जितना ही अपनेको मानकर परके आश्रयसे ज्ञानकी जो क्रिया होती है वह अधर्म है। अनादिसे मति-श्रुतज्ञान परके लक्ष्यसे कार्य कर रहे हैं—इससे संसारपरिभ्रमण है, उस ज्ञानको चेतनस्वभावके लक्ष्यसे स्वभावोन्मुख करना वह अपूर्व धर्म है, और वह मुक्तिका कारण है।

ऊपर २३४वें कलशमें कहा था कि—पर पदार्थोंको जाननेसे उनके साथ एकत्वकी मान्यतासे अनेक प्रकारकी विकारी क्रिया उत्पन्न होती थी वह अधर्म था। अथवा परको जानने जितना ही मेरा ज्ञान है—ऐसा मानना भी परमें एकत्वबुद्धि ही है और वह अधर्म है। यहाँसे अब (इन पन्द्रह गाथाओं द्वारा कहा उस प्रकार) समस्त वस्तुओंसे भिन्न किया गया ज्ञान—अर्थात् समस्त पर द्रव्योंसे भिन्न चेतनस्वभावको जानकर उस स्वभावमें ढला हुआ ज्ञान अनेक प्रकारकी अधर्मक्रियाओंसे रहित है और एक ज्ञानक्रिया मात्र है, अनाकुल है और दैदीप्यमान वर्तता हुआ स्वभावमें लीन रहता है—यही धर्म है। अभी तक जो अनंत जीव संसारसे पार होकर सिद्ध हुये हैं वे सब ऐसी स्वसन्मुख ज्ञानक्रियाके प्रतापसे ही पार हुये हैं; वर्तमानमें जो जीव पार

हो रहे हैं वे इस क्रियाके प्रतापसे ही पार हो रहे हैं और भविष्यमें जो जीव पार होंगे वे भी इसी ज्ञानक्रियाके प्रतापसे ही पार होंगे।

(१६२) ज्ञान और कर्मका भेदज्ञान

कर्म और ज्ञान भिन्न हैं। ज्ञान आत्माके साथ एकमेक है और कर्मसे पृथक् है; वास्तवमें कर्म और कर्मकी ओर ढलता हुआ ज्ञान— वे दोनों आत्मासे पृथक् हैं और आत्माकी ओर ढलता हुआ ज्ञान भी उन दोनोंसे पृथक् है। इस प्रकार कर्म और उस ओर ढलते हुये ज्ञान– दोनोंसे पृथक् होकर स्वभावको जाने तो ज्ञान और कर्मका भेदज्ञान हो। ऐसे भेदज्ञानपूर्वक कर्मको जाना वह ज्ञान सच्चा कहलाता है, नहीं तो कर्मका ज्ञान भी सच्चा नहीं कहलाता।

(१६३) अंतरमंथन करने योग्य अद्भुत रहस्य

निश्चय और व्यवहार भिन्न हैं; इससे निश्चयकी ओर ढलता हुआ ज्ञान व्यवहारकी ओर ढलते हुये ज्ञानसे पृथक् है। निश्चय और व्यवहार दोनोंका ज्ञान साधक जीवको होता है, परन्तु स्वभावके आश्रयसे प्रतिक्षण निश्चयनय बढ़ता जाता है और व्यवहारनय दूर होता जाता है– अर्थात् स्वभावकी एकताकी ओर ज्ञानकी उन्मुखता दूर होती जाती है। इस प्रकार क्रमशः स्वभावमें सम्पूर्ण एकता होनेसे व्यवहार सम्पूर्ण दूर हो जाता है और केवलज्ञान होता है। स्वभावोन्मुख ज्ञान ही आत्मा है, वही ज्ञान सम्यक्त्व है, वही चारित्र है, वही सुख है। ज्ञान आत्मामें अभेद होनेसे द्रव्य-पर्यायका भेद नहीं रहा इससे वह ज्ञान ही आत्माका सर्वस्व है। अहो ! आचार्य भगवानने आत्माके अंतरस्वभावका रहस्य बतलाया है। इस रहस्यको समझकर अंतरमंथन करने योग्य है। मात्र ऊपर-ऊपरसे सुन ही नहीं लेना चाहिये, परंतु बराबर धारण करके, अन्तरमें स्वयं विचार कर निर्णय करना चाहिये।

(१६४) जिज्ञासुओंका महाभाग्य!

परकी ओरके श्रुतज्ञानको स्वभावोन्मुख करना इन गाथाओंका प्रयोजन है। आचार्यदेव क्रमशः सूक्ष्म बात लेते जाते हैं। प्रथम शब्दादि पदार्थोंसे ज्ञानको भिन्न बतलाया है, फिर कर्मसे भिन्न बतलाया है; इस प्रकार रूपी पदार्थोंकी बात पूर्ण हुई।

अब, चार अरूपी द्रव्य हैं–उनसे ज्ञानका पृथक्त्व बतलाते हैं। पश्चात् अंतरमें जो सूक्ष्म अध्यवसानके भाव होते हैं उनसे भी पृथक् बतलायेंगे। इस प्रकार सबसे भिन्न बतलाकर अन्तमें 'ज्ञान और आत्मा एकमेक है, उनमें किंचित् पृथक्त्वकी शंका नहीं करना चाहिये'— ऐसा बतलाकर अपूर्व स्वभावकी बात करेंगे। जिज्ञासु जीवोंके महाभाग्यसे यह अपूर्व बात आई है। यह बात जो समझेगा उसका अविनाशी कल्याण हो जायेगा।

* धर्म द्रव्यसे ज्ञानका भिन्नत्व *

धर्म द्रव्य ज्ञान नहीं है, क्योंकि धर्म द्रव्य अचेतन है; इसलिये ज्ञान और धर्म द्रव्य भिन्न हैं।

(१६५) मिथ्याज्ञान दूर होकर सम्यग्ज्ञान कैसे होता है?

इस जगतमें सम्पूर्ण लोक-व्यापक एक धर्मास्तिकाय नामका अरूपी द्रव्य सर्वज्ञ भगवानने प्रत्यक्ष देखा है; और शास्त्रोंमें उसका वर्णन है; उस धर्मद्रव्यको जो जीव स्वीकार न करे वह तो गृहीत मिथ्यादृष्टि है, उसे तो देव-शास्त्र-गुरुकी भी श्रद्धा नहीं है; और जो जीव धर्मद्रव्यके लक्ष्यसे ही उसका ज्ञान करे वह जीव अगृहीत मिथ्यादृष्टि है। आत्मा पूर्ण चैतन्यमय है, और धर्मद्रव्य तो अचेतन है, उसमें किंचित् ज्ञान नहीं है। उस अचेतनके आश्रयसे जो ज्ञान होता है

उस ज्ञानको भी यहाँ अचेतन सिद्ध किया है; क्योंकि वह ज्ञान चैतन्यके विकासको रोकनेवाला है। स्वभावका आश्रय करके जो ज्ञान प्रगट हो वह चेतन स्वभावमें मिलता है इससे चेतन है, और वह केवलज्ञानका कारण है। आत्मस्वभावके ओरकी उन्मुखता करनेवाला ज्ञान और धर्मास्तिकाय आदि परोन्मुखतावाला ज्ञान–दोनों पृथक् हैं। स्वभावकी ओरका ज्ञान तो मोक्षका साधक है और परकी ओरका ज्ञान रागवाला होनेसे बाधक है, इससे वह अचेतन है। त्रिकाली स्वभावकी ओर उन्मुख होकर चैतन्यमें एकत्व करनेवाला ज्ञान चैतन्यरूप है और मोक्षार्थी जीवोंको यही करना है। अनादिका मिथ्याज्ञान दूर होकर सम्यक् मति-श्रुतज्ञान कैसे प्रगट होता है उसकी यह रीति है। इसमें निश्चय-व्यवहारका स्पष्टीकरण भी आ जाता है। निश्चयके आश्रयसे सम्यग्ज्ञान होता है और पर्यायके आश्रयसे, रागके आश्रयसे अथवा परद्रव्योंके आश्रयसे मिथ्याज्ञान ही बना रहता है।

अनादिसे जीवके मति-श्रुतज्ञान होता है और उस ज्ञानसे इन्द्रिय द्वारा पुद्गलके शब्द-रूपादिका ही ग्रहण होता है; इससे प्रथम उसकी बात की है। और फिर शास्त्र या गुरुके निमित्तसे कर्म तथा धर्म द्रव्य आदिको जानता है, इससे उसकी बात की है। सर्वज्ञदेवके मार्गके अतिरिक्त अन्य किसी स्थान पर धर्म-अधर्म द्रव्यकी बात नहीं होती। इस समय धर्मास्तिकायादि द्रव्योंका अधिकार नहीं चल रहा है इससे उन द्रव्योंकी सिद्धि इस चालू विषयमें नहीं की जा रही है। इस समय तो, जो जीव सच्चे देव-शास्त्रको तथा छह द्रव्योंको स्वीकार करता है, परन्तु अभी पराश्रयमें रुका हुआ है—वैसे जीवको मिथ्याज्ञान दूर होकर सम्यक् मति-श्रुतज्ञान कैसे प्रगट होता है उसका यह वर्णन है। गृहीत मिथ्यात्व दूर करनेके पश्चात् अगृहीत मिथ्यात्व कैसे दूर हो उसकी यह बात है।

* अधर्म द्रव्यसे ज्ञानका भिन्नत्व *

(१६६) धर्मद्रव्यकी भांति अधर्मद्रव्य भी इस लोकमें सर्वत्र व्यापक है, अरूपी है। जीव या पुद्गल स्वयं गति करते हों उस समय धर्मद्रव्य निमित्तरूप है और गति करनेके पश्चात् स्थिर हो उस समय अधर्मद्रव्य निमित्तरूप है। यह अधर्मद्रव्य ज्ञान नहीं है, क्योंकि अधर्म द्रव्य अचेतन है; इससे ज्ञान और अधर्म द्रव्य भिन्न हैं। ऊपर धर्मास्तिकाय द्रव्यकी भाँति यहाँ भी समझ लेना चाहिये।

* काल द्रव्यसे ज्ञानका भिन्नत्व *

काल द्रव्य ज्ञान नहीं है, क्योंकि काल द्रव्य अचेतन है; इसलिये ज्ञान और काल भिन्न हैं। समस्त लोकमें एक एक प्रदेशमें एक एक कालाणु द्रव्य स्थित है; यह काल द्रव्य अरूपी और स्वतंत्र अचेतन पदार्थ है। पदार्थोंके परिणमनमें यह निमित्त है।

(१६७) ज्ञान और कालका भेदज्ञान किसे होता है?

ऐसे काल द्रव्यको जो दुराग्रहसे स्वीकार ही नहीं करते वे तो अज्ञानी हैं ही; परन्तु जो कालद्रव्यको दुराग्रहसे स्वतंत्र नहीं मानते और उपचरित मानते हैं वे भी गृहीत मिथ्यादृष्टि हैं; उन्हें ज्ञान और कालका भेदविज्ञान नहीं होता; वास्तवमें उन्होंने स्वकालका पुरुषार्थ ही स्वीकार नहीं किया है। अपने आत्माकी निर्मल परिणति स्वकाल है, उस स्वकालमें निमित्तरूप एक पर काल (काल द्रव्य) है। जिसने आत्मामें स्वकालका पुरुषार्थ देखा हो उस जीवको निमित्तरूप स्वतंत्र काल द्रव्यका स्वीकार भी होता ही है। परंतु कोई जीव मात्र काल द्रव्यकी उन्मुखतामें ही रुका रहे और अपने सम्पूर्ण ज्ञानस्वभावकी ओर उन्मुख होकर स्वभावकी श्रद्धा-ज्ञान न करे तो वह अज्ञानी है; उसका कालद्रव्यका ज्ञान वास्तवमें आत्मा नहीं है परन्तु अचेतन है; उसे ज्ञान

और कालका भेदविज्ञान नहीं है।

(१६८) स्वभावके आश्रयसे सम्यग्ज्ञान और कालके आश्रयसे मिथ्याज्ञान

'काल पके तब मुक्ति होती है'—ऐसा जो माने उसके ज्ञानकी उन्मुखता अपने स्वभावकी ओर नहीं है, परंतु काल द्रव्यकी ओर है; इससे उसका ज्ञान मिथ्या है। उसने ज्ञानस्वभावका आश्रय नहीं किया परंतु काल द्रव्यका आश्रय लिया है–अर्थात् काल और ज्ञानका भेदज्ञान नहीं किया, परन्तु काल द्रव्यके साथ एकत्वबुद्धि की है, वह मिथ्यात्व है।

'काल पके'–इसका अर्थ क्या? काल द्रव्यमें तो तीनों काल एक समान अवस्था होती रहती है। जीव स्वयं कालकी ओरका लक्ष्य छोड़कर स्वभावोन्मुख हुआ, इससे शुद्धदशा प्रगट हुई–वही स्वकाल पका है। काल द्रव्यकी ओरका विचार करनेमें ही जो ज्ञान रुके वह आत्मा नहीं है। परकी ओरके लक्ष्यसे जो मति-श्रुतज्ञान होते हैं वह मिथ्याज्ञान है। वर्तमान ज्ञान किसके आधारसे होता है? कहीं कालद्रव्यके आधारसे नहीं होता, परंतु त्रिकाली ज्ञानस्वभावके आधारसे होता है; जो वर्तमान ज्ञान, त्रिकाली स्वभावका विश्वास न करे वह ज्ञान अचेतन है–जड़ है। प्रति समय आत्माका स्वभाव परिपूर्ण है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके उसके आश्रयसे जो ज्ञान हो वह सम्यग्ज्ञान है।

इस जगतमें काल द्रव्य है और व्यवहारसे ज्ञान जानता है। परन्तु काल द्रव्यके ज्ञानको सच्चा व्यवहार कब कहा जाता है? त्रिकाली ज्ञानस्वभावमें ढलकर सम्यक् मति-श्रुतज्ञान प्रगट करे तो कालद्रव्यके ज्ञानको व्यवहार कहा जाता है। ऐसा त्रिकाली ज्ञानस्वभाव समझे बिना व्रत या महाव्रत नहीं होते। आत्माका ज्ञानस्वभाव कैसे प्रगट होता है?

इसे समझे बिना धर्म नहीं होता। जीव, पुद्गल, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल–यह छह द्रव्य हैं, उन्हें कहने वाले देव-शास्त्र-गुरु हैं; उन्हें स्वीकार करे वहाँ तक भी मिथ्याज्ञान है।

(१६९) ज्ञानीको स्वाश्रयसे मुक्तिका विश्वास

'पुरुषार्थके बिना काललब्धिसे मुक्ति होती है, अथवा कर्मकी स्थिति घटे तब सम्यक्त्व होता है, अथवा अर्द्धपुद्गलपरावर्तनके अन्दरका संसार रहे तब सम्यक्त्व होता है'—इस प्रकार पराश्रयसे माननेवाला जीव अपने स्वभावमें नहीं ढला है। उसका ज्ञान मिथ्या है। उसे सच्चा व्यवहार भी नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वभावकी ओर ढलनेसे ऐसा जानता है कि मुझे अब अल्प संसार है, एक-दो भवमें अब संसार पूर्ण होना है और मुक्ति मिलना है; और भगवानने भी सम्यग्दृष्टिको अर्द्धपुद्गलपरावर्तनके अन्दर संसार कहा है। इस प्रकार अपने आत्माकी ओर उन्मुख होकर स्वभावकी प्रतीति पूर्वक शास्त्रोंके कथनोंको समझता है। 'भगवानने शास्त्रमें कहा है इसलिये मुझे संसार नहीं है'—इस प्रकार पराश्रयसे न लेकर, 'मैं अपने स्वभावमें ढला हूँ इसलिये मुझे अब संसार नहीं है'—ऐसा स्वाश्रयसे ज्ञानीको निःशंक विश्वास होता है।

(१७०) गृहस्थका छोटेसे छोटा अपूर्व धर्म

सम्यक्त्व प्राप्त करनेके पश्चात् कोई उत्कृष्टरूपसे अर्द्धपुद्गल परावर्तन तक संसारमें परिभ्रमण करता है—ऐसा शास्त्रमें कहा है; इससे कोई ऐसा माने कि मुझे भी सम्यक्त्व प्राप्त करनेके पश्चात् अर्द्धपुद्गल परावर्तन संसारमें भ्रमण करना रहा होगा?' तो ऐसा माननेवाला जीव मिथ्यादृष्टि है, उसे आत्माकी श्रद्धा ही नहीं है। अर्द्धपुद्गल परावर्तनमें तो अनंत भव हो जाते हैं। जो अपने स्वभावमें

ढला हो उसे अनंत भव होनेकी शंका नहीं होती, और उसे अनंत भव होते ही नहीं। शास्त्रमें तो सम्यक्त्व प्राप्त करनेके पश्चात् कोई जीव च्युत हो जाय तो उसे अर्द्धपुद्गल परावर्तनसे अधिक काल तक संसार होता ही नहीं—ऐसा बतलाकर सम्यक्त्वका महात्म्य किया है। शास्त्रके शब्द और वाणी तो पुद्गल हैं, काल द्रव्य जड़ है, उसके लक्ष्यसे आत्माका ज्ञान नहीं होता। चैतन्यस्वभावमें ढलनेसे काल और कर्म–सबका लक्ष्य छूट गया और स्वभावमें एकता करनेवाला सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ। रागसे छूटकर ज्ञान अपने स्वभावमें लीन हुआ; रागरहित परिपूर्ण ज्ञानस्वभावकी श्रद्धा और ज्ञान हुआ—यही सम्यग्दृष्टि गृहस्थका पहलेसे पहला और छोटेसे छोटा प्रारंभिक अपूर्व धर्म है।

[७]

ॐ

श्री श्रुतदेवता जयवंत हो!

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवको नमस्कार!

✻ श्री गुजराती प्रवचनसार परमागम-प्रकाशन दिन ✻

(वीर सं. २४७४ भाद्रपद शुक्ला २, रविवार)

(१७१) प्रवचनसारका गुजराती अनुवाद और उसके अनुवादक

आज यह प्रवचनसार दो हजार वर्ष पश्चात् गुजराती भाषामें प्रथम प्रकाशित हो रहा है। आजसे लगभग दो हजार वर्ष पूर्व भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने समयसार, प्रवचनसार, नियमसार इत्यादि महान शास्त्रकी रचना करके इस भरतक्षेत्रमें श्रुतकी अपूर्व प्रतिष्ठा की थी; उसके पश्चात् लगभग एक हजार वर्ष बाद श्री अमृतचंद्राचार्यदेव हुये; उन्होंने समयसार, प्रवचनसारादि शास्त्रोंकी संस्कृत टीकाकी रचना करके उसके गम्भीर भावोंको खोला। उसके बाद आजसे प्राय १५० वर्ष पूर्व जयपुर निवासी पं० जयचंद्रजीने समयसारका देशभाषा–हिन्दी अनुवाद किया था। करीब आठ वर्ष पहले समयसारका गुजराती अनुवाद प्रकाशित हुआ है। वह अनुवाद भाईश्री हिम्मतलाल जेठालाल शाह (B. Sc.)ने किया है। श्री प्रवचनसार परमागमके कितने ही साधारण भाव लेकर श्री पांडे हेमराजजीने हिन्दीमें बालावबोध भाषाटीका की थी; परन्तु उसमें मूल टीकाके पूरे भाव नहीं थे। इस समय यह प्रवचनसार अक्षरशः गुजराती भाषामें अनुवाद सहित इस हिन्दुस्तानमें दो हजार वर्ष बाद प्रकाशित हुआ है, यह महा प्रभावनाका कारण है। यह अक्षरशः

अनुवाद हिंमतभाईने किया है; इससे उनका इस संस्था पर और जिज्ञासु जीवों पर उपकार है...उन्होंने प्रवचनोंके श्रवण-मननसे और अपने श्रद्धा-वैराग्य-उत्साह और रुचिसे प्रवचनसारका अक्षरशः अनुवादका जो कार्य किया है उसका कोई मूल्यांकन नहीं हो सकता; उन्होंने तो अपने आत्महितके लिये यह कार्य किया है।

(१७२) समझनेवाले जीवोंका महाभाग्य

आज दोज और रविवार है। दोज अर्थात् चंद्र और रवि अर्थात् सूर्य। इस संस्थासे सम्बन्धित अनेक प्रसंगोंमें रविवार और दोज आती है। आज महा मांगलिक प्रसंगका दिन है; भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवका यह प्रवचनसार आज हिन्दुस्तानमें महान अपूर्व श्रुतप्रभावनाके लिये प्रकाशित हुआ है और वह समझनेवाले जीवोंका महाभाग्य और पात्रता सूचित करता है। ऐसे प्रवचनसारका योग मिला यह महाभाग्य है, यह पूर्वके पुण्य है। इसके भावोंको अंतरमें समझना वह महान पात्रता है, उसमें अपना वर्तमान पुरुषार्थ है। इस प्रकार पुण्य और पुरुषार्थकी संधि है।

(१७३) प्रवचनसार अर्थात् दिव्यध्वनिका सार

श्री सर्वज्ञदेवकी दिव्यध्वनिको प्रवचन कहते हैं। उसका सार परमागममें भरा हुआ है। इससे इसका नाम 'प्रवचनसार' है। सर्वज्ञ भगवानकी दिव्यध्वनिमेंसे यह शास्त्र प्रगट हुआ है। महाविदेहक्षेत्रमें विराजमान तीर्थंकरदेव श्री सीमंधरस्वामीके समवसरणमें कुन्दकुन्दाचार्यदेव गये थे और वहाँ आठ दिन रहकर भगवानकी दिव्यध्वनि श्रवण की थी। उसके साररूप और भगवान श्री महावीरकी परंपरासे प्राप्त हुये ज्ञानके द्वारा कुन्दकुन्दाचार्यदेवने इस शास्त्रकी रचना की है। इस शास्त्रके कथन अक्षरशः सत्य है, परम सत्य है; यदि सर्वज्ञ

भगवानका ज्ञान पलट जाये तो इस शास्त्रके अक्षर अन्यथा हो सकते हैं। और भगवान कुन्दकुन्द आचार्य सीमंधर भगवानके पास गये थे यह बात निःसंदेह ऐसी ही है।

(१७४) श्रुतकी महाप्रतिष्ठा करनेवाले विभु कुन्दकुन्द

महाविदेहमें जाकर आठ दिन तक दिव्यध्वनिका श्रवण करके कुन्दकुन्दाचार्यदेव अपने आत्मामें अपूर्व ज्ञान लेकर आये। प्रथम, स्वयं मुनिदशामें तो थे ही, और महावीरस्वामीकी परंपरासे प्राप्त हुआ ज्ञान भी था; परन्तु सीमंधर भगवानके पास जानेसे उनके ज्ञानकी निर्मलता अत्यंत बढ़ गई और श्री समयसार, प्रवचनसार, नियमसार आदि शास्त्रोंकी रचना करके उन्होंने भरतक्षेत्रमें श्रुतज्ञानकी महा प्रतिष्ठा की। वह श्रुत इस समय अधिकांश प्रगट होता जा रहा है, और वर्तमानमें जीवोंको भी वैसे भाग्यका योग है। चंद्रगिरि पर्वतके शिलालेखमें लिखा है कि 'जिस पवित्र आत्माने भरतक्षेत्रमें श्रुतकी प्रतिष्ठा की है, वह विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किससे वंद्य नहीं हैं ?'

(१७५) मोक्षके भाजन

साक्षात् तीर्थंकर भगवान अपनी दिव्यध्वनिसे जो कहते हों उसमें और इस प्रवचनसारमें जो श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं उसमें किंचित् अन्तर नहीं है; जो उसमें अन्तर माने वह मिथ्यादृष्टि है। जिसके आत्मामें पात्रता न हो उसे यह बात नहीं जमती; और जो पात्र आत्मा होंगे उन्हें अवश्य यह बात रुचेगी। जिन्हें यह बात रुचेगी वे अल्पकालमें मोक्षका भाजन हैं, और वे जीव अल्पकालमें अपनी परमात्मदशाको वरेंगे– इसमें कोई संदेह नहीं है। इस समय यह जो समयसार-प्रवचनसारादिका महान योग बना है वह अमुक आत्माओंके अपूर्व संस्कार और अपूर्व पात्रताको बतलाता है।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ-३६४२५०

(१७६) प्रवचनसारके अनुवादकी अपूर्वता

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवके समयसार-प्रवचनसारादि परमागमकी प्रभावना इस समय बहुत हो रही है। वि. सं. १९९७ (इ.स. १९४१)में समयसार गुजराती भाषामें प्रसिद्ध हुआ और उसकी दो हजार प्रतियाँ थोड़े ही समयमें खप गई। उसका गुजराती अनुवाद भी हिम्मतभाईने किया था, उसमें तो पंडित जयचंद्रजीके हिन्दी अनुवादका कुछ आधार भी था; परंतु इस प्रवचनसारका गुजराती अनुवाद तो मूल गाथा–टीका परसे बिलकुल नया ही करना था, इससे इसमें भारी परिश्रम हुआ है। उन्होंने भारी बुद्धि और परिश्रमसे यह कार्य समाप्त किया है। मूल गाथा और टीकाके संपूर्ण भावोंकी संभाल रखकर अक्षरशः अनुवाद किया है। आवश्यक्तानुसार भावार्थ और फुटनोट लिखकर अत्यन्त स्पष्ट किया है। इसके अतिरिक्त मूल गाथाका गुजराती हरिगीत भी बहुत सुन्दर किया है। यह प्रवचनसार अपूर्व वस्तु है। अभी तक देशभाषामें भी अक्षरशः अनुवाद कर्ता कोई नहीं निकला, और यह ग्रन्थ यहाँसे तैयार हुआ है, वह किसी अपूर्व प्रभावशाली योगसे बना है।

(१७७) प्रवचनसारके रचयिता और उसकी महिमा

प्रवचनसार अर्थात् वीतरागदेवकी दिव्यध्वनि सार। इस प्रवचनसारमें चारित्रकी मुख्यताका वर्णन है। जिस प्रकार शरीरकी शोभामें तिलक है उसीप्रकार आत्माकी मुक्तिके मार्ग पर चलनेवाले साधक जीवोंको यह प्रवचनसार तिलकके समान है।

प्रवचनसारके प्रारंभमें ही कुन्दकुन्दाचार्य भगवान कहते हैं कि– 'मैं जिससे मुक्ति प्राप्त हो ऐसे साम्यभावरूप चारित्रको अंगीकार करता हूँ। आत्माके परम उपशमरसको धारण करता हूँ। अहो ! आचार्यदेवका

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

यह कथन तो अक्षरशः सत्य है। स्वयंको वैसी चारित्रदशा वर्त रही थी उस समय यह शास्त्र लिखा गया है। इस शास्त्रमें मुख्यतया दर्शन-ज्ञान-पूर्वकके चारित्रका वर्णन है। कथनमें ज्ञानप्रधानता है। एकदम आत्मस्वरूपके अनुभवकी लीनता होने पर तीन कषायोंके नष्ट होनेसे चारित्रदशा प्रगट होती है– उसकी इसमें बात है। और ऐसी चारित्रदशामें झूलते हुये महामुनिका यह कथन है। इस परमागमोंके भावोंका रुचिपूर्वक स्वीकार करनेमें अनंत तीर्थंकर, सर्वज्ञ, संतों और ज्ञानियोंकी स्वीकृति आ जाती है। इसके एक अक्षरकी भी अस्वीकृति, अनंत तीर्थंकरों–सर्वज्ञों-संतों और ज्ञानियोंकी अस्वीकृति करने जैसी है। इसका स्वीकार करनेवाला कौन है ? जिसे अपने भावोंमें भलीभांति जम गया है, वही 'हाँ' कहता है। इस कथनका स्वीकार करना–ऐसा कहना व्यवहारमें विनयसे है; परन्तु वास्तवमें तो इसका स्वीकार करनेवालेने इसके वाच्यभूत अपने ज्ञान और सुखसे परिपूर्ण स्वभावका ही 'हाँ' कह कर उसका आदर किया है। वह जीव अल्पकालमें पूर्ण ज्ञान और सुखमय दशाको प्राप्त करता है।

(१७८) अर्हंत भगवानको जो विहारादि क्रियाएँ हैं वह क्षायिकी क्रिया है

इस शास्त्रकी ४५वीं गाथामें 'केवली भगवान कैसे होते हैं ?' वह बात आचार्यदेव कहते हैं। केवली भगवानके आहारादि तो होता नहीं है, परंतु योगके कंपनके निमित्तसे विहार, आसन, स्थान और दिव्यध्वनि बिना इच्छाके होती है। यहाँ ऐसा सिद्ध करना है कि अरिहन्तोंको यह योगका कंपन अथवा विहारादि बंधका कारण नहीं है; परंतु मुक्तिका कारण है। योगका परिणमन प्रति समय क्षायिकभावमें मिलता जाता है। योगके कंपनके निमित्तसे कर्मबंधन तो नहीं होता

प्रत्युत क्षायिकभाव बढ़ता जाता है। योगका कंपन होने पर भी मोहके अभावके कारण पारिणामिकभावमें और क्षायिकभावमें ही वृद्धि होती जाती है, इसलिये योगका कंपन और विहारादि क्रियाएँ औदयिक क्रिया नहीं है परंतु क्षायिकी क्रिया है। अहो! इसमें अंतर्दृष्टिकी अपूर्व बात है, केवलज्ञानीकी वाणीका रहस्य है। योगका कंपन केवली भगवानके निर्मलताकी ही वृद्धि करता रहता है। यह बात पर्यायबुद्धिवाला जीव समझ नहीं सकता। अध्यात्मदृष्टि–अंर्तदृष्टिवाला कोई जीव समझता है; दूसरोंको उसमें मेल नहीं बैठता, और जो यह बात समझ ले उसे क्षायिकभाव प्रगटे बिना न रहे।

'अरिहंत भगवानको योगका कंपन और विहार, दिव्यध्वनि इत्यादि होते हैं वह बंधका कारण नहीं है, परंतु मुक्तिका कारण है– इससे वह क्षायिकी क्रिया है'। इस प्रकार अरिहन्त भगवानकी बात ४५वीं गाथामें चलती थी और भावार्थ बाकी था, वहीं बीचमें बराबर यह प्रवचनसारकी प्रभावनाका प्रसंग बना है। तीर्थंकरोंके उपदेशकी और विहारकी बात चलती थी, वहाँ इस प्रवचनसारकी प्रभावनाका उदय हुआ है– यह बात भी कुछ योगकी सूचना देती है।

(१७९) प्रवचनसारके अभ्यासका फल

जो जीव श्री कुन्दकुन्दाचार्य भगवानके इन समयसार, प्रवचनसारादि परमागम शास्त्रोंका सद्गुरुगमसे, महिमा लाकर, स्वच्छंदताको छोड़कर, आत्महितकी बुद्धिसे और 'इसमें अपूर्व स्वभावकी बात है'–इस प्रकार स्वभावके लक्ष्यसे निरंतर अभ्यास करेगा वह जीव अल्पकालमें परमपदको प्राप्त करेगा और स्वयं ही अतीन्द्रियज्ञान और आनंदरूप हो जायेगा।

❑ ❊ ❑

(यहाँ तक श्री प्रवचनसार सम्बन्धी व्याख्यान हुआ। अब, चालू अधिकार-समयसार गा. ३९० से ४०४ परका व्याख्यान प्रारम्भ होता है।)

* आकाश और ज्ञानका भिन्नत्व *

आकाश ज्ञान नहीं है, क्योंकि वह अचेतन है इसलिये ज्ञान और आकाशका भिन्नत्व है। समस्त द्रव्योंसे ज्ञानको पृथक् बतलाते बतलाते अब, अंतिम आकाश द्रव्यकी बात आयी है। प्रदेश की अपेक्षासे आकाश सबसे बड़ा द्रव्य है। आकाश अनंतप्रदेशी अरूपी है; वह इन्द्रियज्ञान द्वारा ज्ञात नहीं होता, परंतु श्रुतज्ञानका विषय है।

(१८०) जो ज्ञान स्वभावको स्वीकार नहीं करता वह अधर्म है और स्वीकार करे वह धर्म है।

आकाश और ज्ञान भिन्न हैं—ऐसा समझनेसे अपना ज्ञान आकाशकी ओर न जाकर अपने स्वभावकी ओर आता है। आत्माका ज्ञानस्वभाव है, उसकी वर्तमान पर्याय प्रत्येक समय होती है; वह ज्ञानपर्याय कहीं बाह्यमें अपनत्व मानकर रुकती हो–उसे स्वभावोन्मुख करना वह धर्म है। जो ज्ञान बाह्यकी (आकाशादि पदार्थोंकी) बातको स्वीकार करता हो परंतु स्वभावको स्वीकार न करता हो वह अज्ञान है–अधर्म है; और जो ज्ञान अंतरस्वभावको स्वीकार करके उसमें एकाग्र हो वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकतारूप मोक्षमार्ग है, वह धर्म है।

(१८१) साधक जीवको सम्यक्मति-श्रुतज्ञान मोक्षका कारण है।

प्रत्येक आत्मा शरीरसे भिन्न, त्रिकालस्थायी ज्ञानस्वभावी है, उसके ज्ञानकी अवस्थामें पाँच प्रकार होते हैं—मति, श्रुत, अवधि,

मन:पर्यय और केवलज्ञान। उनमेंसे किस ज्ञानसे धर्म होता है ? अथवा कौनसा ज्ञान मोक्षका कारण होता है ? केवलज्ञान तो साधक जीवको होता नहीं है, अवधि और मन:पर्यय ज्ञान परको ही जानते हैं, इससे वे वास्तवमें मोक्षके कारण नहीं हैं। अब मति और श्रुतज्ञान प्रत्येक छद्मस्थ जीवके होते हैं; वे मति–श्रुतज्ञान आत्माको छोड़कर परको जाननेमें रुकें तो वह अधर्म है। परको जाननेमें रुकता है उस मति–श्रुतज्ञानको आत्माका स्वरूप माने तो अज्ञान है–कुमति–कुश्रुत है। और वह ज्ञान परका लक्ष्य छोड़कर अपने त्रिकाल आत्मस्वभावकी ओर उन्मुख होकर उसके अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणा करे तो वह सम्यग्ज्ञान होता है, यह सम्यक्मति–श्रुतज्ञान धर्म है और वह मोक्षका कारण है।

(१८२) धर्मका अपूर्व प्रारंभ

जो ज्ञान शब्दादिको जाने उतना ही मैं नहीं हूँ, मैं अंतरमें परिपूर्ण स्वभाव हूँ–इस प्रकार अन्तरसन्मुख होकर अवग्रह करे अर्थात् ज्ञानमें स्वभावका ग्रहण करे, ज्ञानको स्वभावसन्मुख करे–वह आत्मोन्मुख मतिज्ञानकी छोटीसे छोटी प्रथम अवस्था है, और वही धर्मका अपूर्व प्रारंभ है।

(१८३) अपूर्व वस्तु–आत्माको समझ लेना

देखो भाई ! आत्मस्वभावको समझ लेना ही अपूर्व वस्तु है। अनंतकालमें सब कुछ किया है परंतु अपना आत्मस्वभाव क्या है वह नहीं समझा। इस जीवनमें यही करने योग्य है, इसके बिना जीवनमें जो कुछ करे वह सब व्यर्थ है–आत्माको संसारका कारण है, अनंतकालसे आत्माको नहीं समझा है, इससे उसके लिये अपार रुचि होना चाहिये। रुचिके बिना पुरुषार्थ प्रगट नहीं होता।

(१८४) रुचिपूर्वक प्रयत्न करे तो अल्पकालमें आत्मा समझमें आ जाये

आत्मा सूक्ष्म–अरूपी वस्तु है। उसका द्रव्य सूक्ष्म, उसके गुण सूक्ष्म और उसकी पर्यायें भी सूक्ष्म हैं, और सूक्ष्मकी समझ भी सूक्ष्म ही होती है—उसमें कुछ नवीनता नहीं है। इसलिये रुचिपूर्वक अपने ज्ञानको सूक्ष्म और स्थिर करके अभ्यास करना चाहिये। आत्मा सूक्ष्म है इसलिये उसको समझनेमें भारी पुरुषार्थकी आवश्यक्ता है–इस प्रकार पुरुषार्थकी उग्रता करानेके लिये सूक्ष्म कहा है। परंतु 'आत्मा तो सूक्ष्म है इसलिये अपनी समझमें नहीं आयेगा'–ऐसा नहीं समझना। जिन्हें आत्माकी रुचि हो उन प्रत्येक जीवोंको आत्मा समझमें आने योग्य है। 'यह सूक्ष्म है'–ऐसा कहकर उसे समझनेका प्रयत्न ही छोड़ देना–वह तो आत्माकी अरुचि और अनन्त संसारमें परिभ्रमणका कारण है। जहाँ अपनी रुचि और अनन्त संसारमें परिभ्रमणका कारण है। जहाँ अपनी रुचि हो वहाँ बारम्बार प्रयत्न करनेसे थकता नहीं है। सूक्ष्म मेरा स्वभाव और सूक्ष्म उसका ज्ञान–इस प्रकार स्वभावकी महिमा लाकर रुचिसे बारम्बार प्रयत्न करे तो अल्पकालमें स्वभाव समझमें आ जाये और जन्ममरणके दुःखोंसे छूट जाये। अपना स्वभाव समझे बिना अन्य कोई दुःखोंसे मुक्त होनेका उपाय नहीं है।

(१८५) धर्म करनेवाले जीवके अंतरमें होनेवाली ज्ञानक्रिया

देहादिकी क्रियाएँ अथवा पूजा-व्रत-दानादिके भाव ज्ञानका स्वरूप नहीं है; और उस विकारके लक्ष जितना ही ज्ञानस्वभावको माने तो वह भी मिथ्यात्व है–अज्ञान है–अव्रत है, ज्ञानस्वरूपकी हिंसाका पाप है। जड़की क्रिया, विकारभाव अथवा उस ओरका क्षणिक ज्ञान—उन सबसे भिन्न अंतरमें अपना परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव है उस ओर

ज्ञान उन्मुख हो, तब सम्यक् मतिज्ञानके प्रारम्भका अवग्रह हुआ; यहाँसे धर्मका प्रारम्भ है। परकी ओर जाते हुये मतिज्ञानको रोककर स्वभावोन्मुख करे वहाँ प्रथम तो स्वभावके ग्रहणरूप अवग्रह होता है, फिर स्वभावकी विचारणारूप ईहा होती है, पश्चात् वही ज्ञान उपयोग स्वभावकी ओर विशेष बढ़ने पर स्वभावका ऐसा निश्चय होता है कि वह बदल नहीं सकता–इसका नाम अवाय है। और फिर कालान्तरमें विस्मरण न हो ऐसी स्वभावकी धारणा होती है।—ऐसी अंतरस्वभावकी ज्ञानक्रिया ही धर्मकी क्रिया है। बाह्यमें किसी पुण्यमें, पैसेमें या शरीरकी क्रियाओंमें कहीं भी धर्म नहीं है। प्रथम तो सत्समागमसे आत्माकी रुचिपूर्वक आत्मस्वभाव जैसा है वैसा ध्यानमें लेना चाहिये; तत्पश्चात् अपने मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको परकी ओर उन्मुख न करके ज्ञानस्वभावमें ढालकर वहीं एकाग्र करना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रका मार्ग है।

(१८६) बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा

बहिरात्मा जीव अपने ज्ञानमें संयोगोंको–निमित्तोंको और विकल्पोंको स्वीकार करता है, परंतु अपने त्रिकाली ज्ञानको स्वीकार नहीं करता। अंतरात्मा जीव वर्तमान ज्ञानअवस्थाको अंतरोन्मुख करके त्रिकाली ज्ञानस्वभावका स्वीकार करता है और संयोगों अथवा रागादिका अवलम्बन नहीं मानता। रागादि होते अवश्य हैं परंतु उनका आश्रय नहीं मानता। परमात्मा जीव अपने त्रिकाली स्वभावके आश्रयसे परिपूर्ण हो गया है, उसे रागादिकी उत्पत्ति ही नहीं होती। इन तीन दशाओंमें जो अंतरात्मा है वह परमात्मा होनेका उपाय है। बहिरात्मापना दूर करके अन्तरात्मापना और परमात्मापना प्रगट हो अर्थात् अधर्मीपना दूर होकर धर्मीपना कैसे हो–उसकी बात यहाँ चल रही है।

(१८७) निर्विकल्प समाधिका आनंद कब आता है?

मतिज्ञानको स्वभावोन्मुख करके स्वभावमें स्थित हो, तो श्रुतज्ञान द्वारा आत्माके आनंदका अनुभव हो। मति और श्रुतज्ञान परमें एकता करें तो आकुलताका वेदन होता है। पहले सत्य उपदेशके श्रवणसे स्व-परका भिन्नत्व जाने और मतिज्ञानको अंतरस्वभावोन्मुख करके श्रुतज्ञान भी आत्मामें स्थिर हो तब आत्माको निर्विकल्प समाधिका अतीन्द्रिय आनंद होता है; उसका नाम निर्विकल्प सम्यग्दर्शन है, वह आत्मसमाधि है, वही सुख है और वही धर्म है।

आकाश पर द्रव्य है, ज्ञानसे पृथक् है; वह श्रुतज्ञानका विषय है; परंतु यदि उसका आश्रय करके श्रुतज्ञान जाने तो श्रुतज्ञानमें विकल्प और आकुलता ही होती है; और स्वभावका आश्रय करके वह ज्ञान एकाग्र हो तब श्रुतज्ञानमें निर्विकल्प समाधिका आनंद होता है। ऐसे ज्ञानस्वभावकी रुचि और प्रतीति जो करे वह मोक्षमार्ग प्रगट करके अनुक्रमसे पूर्णदशा प्रगट करता है।

(१८८) स्वानुभवप्रत्यक्ष आत्मस्वभावको समझने और सुननेकी अपूर्वता

आत्मा स्वयं सूक्ष्मस्वभाववाला है, वह किसी परके अवलम्बनसे ज्ञात हो वैसा नहीं है, परंतु स्वभावका अवलम्बन करनेसे उसे जाना जा सकता है, अर्थात् आत्मा स्वानुभवप्रत्यक्ष है। अनंतकालमें अपने आत्माको जाननेकी जीवने कभी दरकार नहीं की है; अनंतकालसे जो कुछ जाना है वह मात्र परको जाना है परंतु अपनेको जाननेकी दरकार नहीं की है। अपना स्वरूप जाने बिना परका सच्चा ज्ञान नहीं होता। श्री समयसारकी चौथी गाथामें

आचार्यदेवने कहा है कि—अपने आत्मस्वभावसे विरुद्ध ऐसी काम, भोग, बंधकी कथा तो सर्व जीवोंको सुलभ है, वह तो जीवने अनंतकालसे सुनी है, उसका परिचय किया है और अनुभव भी किया है; परंतु परसे भिन्न अपने एकत्वस्वभावकी बात भी कभी रुचिपूर्वक नहीं सुनी है। अपना आत्मा सदैव अंतरंगमें प्रकाशमान है और निर्मल भेदज्ञानके प्रकाशसे उसे स्पष्ट भिन्न देखा जा सकता है, परंतु परके साथकी एकत्वबुद्धिके कारण स्वयं अपने भिन्न स्वभावको कभी नहीं जाना है; और न दूसरे आत्मज्ञानी पुरुषोंकी सेवा-संगति की है; न उनकी बात रुचिपूर्वक सुनी है। जब सत्पुरुषकी वाणी सुननेका योग मिला तब भी स्वाश्रयकी रुचि नहीं की और वाणी आदिके या पराश्रित व्यवहारके लक्ष्यमें रुक गया, इससे अनंतकालमें जीव आत्मस्वभावको नहीं समझा है। जिस प्रकार मगशेलिया (एक प्रकारका पत्थर) पर लाखों मन पानी पड़े तो भी वह भीगता नहीं है, उसी प्रकार जो अपने भावश्रुतज्ञानको अंतरोन्मुख करके चैतन्यमूर्ति आत्मस्वभावका आश्रय नहीं करता और द्रव्यश्रुतके अवलम्बनसे ही ज्ञान मानकर रुकता है–ऐसे जीव पर सत्पुरुषकी अमृतवाणीकी वर्षा चाहे जितनी हो परन्तु वह भीगता नहीं है—उसे धर्म नहीं होता। वाणीके लक्षसे धर्म नहीं होता परंतु स्वभावके आश्रयसे ही धर्म होता है। सत्पुरुषोंकी वाणी भी स्वभावका आश्रय करनेके लिये कहती है; परंतु जीव स्वयं भावश्रुत प्रगट करके स्वभावका आश्रय न करे तो द्रव्यश्रुतरूप वाणी उसे क्या करेगी? वाणी तो अचेतन है, उसके आधारसे ज्ञान नहीं है। आत्माकी ओर उन्मुख न होकर परान्मुख होनेसे जो ज्ञान हो वह वास्तवमें अचेतन है, आत्माके चेतनस्वभावके साथ उसकी एकता नहीं है।

(१८९) आकाश बड़ा या ज्ञान?

आज प्रवचनसारकी प्रसिद्धिका महान दिवस है और बात भी महान सर्वव्यापक आकाश द्रव्यकी आयी है। उस आकाश द्रव्यसे भी ज्ञान पृथक् है। ज्ञानको आकाशका आश्रय नहीं है परंतु अपने स्वभावका ही आश्रय है। इस जगतमें अनंत जीव हैं, जीवोंकी अपेक्षा पुद्गल अनंतगुने हैं, पुद्गलोंकी अपेक्षा तीन काल के समय अनंतगुने हैं और कालके समयकी अपेक्षा आकाशके प्रदेशोंकी संख्या अनंतगुनी है; और इन सबकी अपेक्षा आत्मोन्मुख ज्ञानके एक समयका अनंतगुना सामर्थ्य है। यदि ज्ञान आत्मोन्मुख हो तो वह आकाशादिसे भी अनंतगुना जाने—वैसी उसकी अवस्थाकी शक्ति है। और ऐसी अनंत अवस्थाका पिण्ड आत्मस्वभाव है। ऐसे सम्पूर्ण ज्ञानसामर्थ्यका विश्वास और महिमा न करे और आकाशादि ज्ञेय पदार्थोंको जाननेमें ही रुक जाय तो जीवको धर्म नहीं होगा; इसलिये यहाँ आचार्यदेव समझाते हैं कि आत्माका ज्ञान आकाशादि पदार्थोंसे भिन्न है।

(१९०) धर्म कहाँ और कैसे होता है?

ज्ञानसे आत्माका धर्म किस प्रकार होता है–उसकी यह बात है। धर्म कहीं बाह्यमें तो होता नहीं है, और आत्माके द्रव्य या गुणमें भी नहीं होता; धर्म आत्माकी वर्तमान अवस्थामें होता है। अब ज्ञानकी वर्तमान अवस्था यदि आकाश द्रव्यकी ओर लक्ष करे तो उस अवस्थामें धर्म नहीं होता। 'समस्त द्रव्योंकी अपेक्षा आकाश द्रव्य अनंतगुना विशाल है'—ऐसा श्रुतज्ञानके विकल्पसे–रागमें एकता करके जो ज्ञान लक्ष्यमें ले उस ज्ञानको भी अचेतन पदार्थोंके साथ अभेद गिनकर अचेतन कहा है। और जो ज्ञान अवस्था आकाशादि पर द्रव्योंकी ओरके विकल्पसे छूटकर आत्मस्वभावोन्मुख हो वह ज्ञान राग रहित है, चेतनके साथ अभेद है, और वह ज्ञान ही धर्म है।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ-३६४२५०

(१९१) पराश्रित ज्ञान अचेतन है, स्वाश्रित ज्ञान केवलका कारण है

अनंत आकाशको लक्ष्यमें लेने पर भी जो ज्ञान पराश्रित है वह अचेतन है; और आत्माका जो वर्तमान ज्ञान दयादि के विचारोंमें रुके वह भी अचेतन है। एक समयके भावश्रुत ज्ञानको स्वभावोन्मुख करके त्रिकाली आत्मस्वभावकी रुचिवाला जो ज्ञान प्रकट हो वह त्रिकाली चेतनके साथ एक हुआ, उसे यहाँ चेतन कहा है। स्वभावका आश्रय करके आत्माको जानता है वह निश्चय है और स्वभावके आश्रयपूर्वक आकाशकी अनंतता इत्यादिको जाने वह व्यवहार है। इस प्रकार अपार चैतन्यस्वभावको लक्ष्यमें लेकर उसका आश्रय करे उसीको यहाँ यथार्थ ज्ञान कहा है; अज्ञानीके पराश्रित ज्ञानको यहाँ अचेतनमें गिना है। राग कम करके शास्त्रके आश्रयसे ग्यारह अंगोंको जाने, तथापि वह ज्ञान मात्र रागका चक्र बदलकर हुआ है, उस ज्ञानमें स्वभावका आश्रय नहीं है परन्तु रागका आश्रय है, इससे ग्यारह अंगोंका ज्ञान भी अनादिकी जातिका ही है। आत्मस्वभावकी रुचि करके उसमें समाधि-एकाग्रता द्वारा जो ज्ञान प्रकट हो वह अपूर्व है, मोक्षका कारण है। भले ही शास्त्र इत्यादि–परका अधिक ज्ञान न हो, फिर भी स्वभावके आश्रयसे हुआ ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और वह केवलज्ञानका कारण है।

अब विचार करो कि–कितने बाह्य कारणोंसे आत्माका ज्ञान प्रगट होता है? बाह्य पदार्थोंके ज्ञानसे अथवा उस ओरके शुभरागसे चैतन्यस्वरूप आत्माका ज्ञान नहीं होता। आत्मोन्मुख हो तभी आत्माका ज्ञान होता है। जीवकी अपेक्षा पुद्गल, पुद्गलकी अपेक्षा कालके समय और उनकी अपेक्षा आकाशके प्रदेश अनंत गुने हैं, उनका ख्याल पर लक्ष्यसे करे, परन्तु उन सबको ख्यालमें लेनेवाला अपना

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

चैतन्यस्वभाव कैसा है उसे ख्यालमें न ले तो मात्र पर लक्ष्यसे हुआ ज्ञानका विकास स्थायी नहीं रहता। आत्माका स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है, अपने चैतन्यस्वभावके यथार्थ ज्ञान बिना परका ज्ञान यथार्थ नहीं होगा। और ऐसे ज्ञानसे आत्माको सुख या धर्म नहीं होगा।

(१९२) चैतन्यको लक्ष्यमें लेनेवाले ज्ञानका अनंत सामर्थ्य और उसकी महिमा

सभी द्रव्योंमें आकाशकी प्रदेशसंख्या अनंत है, परन्तु आत्मस्वभावका ज्ञानसामर्थ्य उससे भी अनंतगुना है; क्योंकि अनंत आकाशको जाने–ऐसा ज्ञानकी एक पर्यायका सामर्थ्य है; ऐसी अनंत पर्यायोंका पिण्ड एक ज्ञानगुण है और ऐसे ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य आदि अनंत गुण आत्मामें हैं। ऐसे चैतन्यस्वभावकी अनंतता लक्ष्यमें लेनेसे ज्ञानकी अपनी ओरकी अनंतगुनी दशा विकसित हुई। आकाशकी अनंतताकी अपेक्षा चैतन्यकी अनंतता अनंतगुनी है, इससे आकाशको लक्ष्यमें लेनेवाले ज्ञानकी अपेक्षा चैतन्यको लक्ष्यमें लेनेवाले ज्ञानमें अनंतगुना सामर्थ्य है। और ऐसे अनंत चैतन्यसामर्थ्यका ज्ञान करनेसे सम्यक् पुरुषार्थ विकसित हुआ है। आकाशकी अनंतता लक्ष्यमें लेनेवाला ज्ञान पर प्रकाशक है–उसकी महिमा नहीं है और वास्तवमें वह मोक्षमार्गमें सहायक नहीं है। जो ज्ञान स्वभावको पकड़कर एकाग्र हो उस ज्ञानकी महिमा है, और वह मोक्षमार्गरूप है। यहाँ परकी ओरके ज्ञानका निषेध करनेसे वास्तवमें तो व्यवहारका और पर्यायबुद्धिका ही निषेध करके उसका आश्रय छुड़ाया है। इसी प्रकार धर्म होता है। इसमें पापभावकी तो बात नहीं है और राग कम करके पुण्य करते करते धर्म हो जायेगा–ऐसा कोई माने तो उसे किंचित् धर्म नहीं है, परन्तु मिथ्यात्वके पापकी पुष्टि करते रहनेसे उसकी पर्यायमें निगोददशा होती है।

द्रव्योंकी संख्यामें पुद्गल द्रव्य सबसे अनंत हैं; क्षेत्रसे आकाश द्रव्य सबकी अपेक्षासे अनंतगुना है; और भावसे भगवान आत्माके ज्ञानकी अनंतता है। समस्त पदार्थोंकी अनंतताको जाननेवाला आत्माका ज्ञान ही है, उस ज्ञानकी ही महिमा है। ज्ञानस्वभावकी अनंतताकी महिमा जानकर उसमें जो ज्ञान उन्मुख हुआ वह ज्ञान आत्मकल्याणका कारण है। छह द्रव्योंके स्वभावका यथार्थ वर्णन सम्पूर्ण सर्वज्ञदेवके मार्गके अतिरिक्त अन्य कहीं नहीं है; और उन छह द्रव्योंका तथा उन्हें जाननेवाले अपने ज्ञानस्वभावका यथार्थ स्वीकार करनेवाले सर्वज्ञदेवके अनुयायी–सम्यग्दृष्टिके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हैं।

(१९३) जिनवाणीका सार

आज प्रवचनसारकी प्रभावनाका दिन है। प्रवचन अर्थात् जिनवाणी। उपरोक्त कथनानुसार ज्ञानस्वभावी आत्माको जानना ही सर्व जिनवाणीका अर्थात् प्रवचनका सार है।

(१९४) चेतनको भूले वह ज्ञान अचेतन है

आकाशकी अनंतता आदि छहों द्रव्योंको राग सहित लक्ष्यमें ले–उतना विकास तो अज्ञानमें भी होता है। समस्त द्रव्योंमें आकाश अनंतगुने प्रदेशवाला है–ऐसा तो मिथ्याश्रुत ज्ञान भी ख्यालमें लेता है। परन्तु पर पदार्थोंका चाहे जितना ज्ञान करे वह आत्माके जाननेमें कार्यकारी नहीं होता। अपने स्वभावकी स्वीकृतिके बिना जितना परका ज्ञान हो वह सब अचेतन है। चेतन तो उसे कहते हैं कि जो त्रिकाली ज्ञानस्वभावको स्वीकार करके उसमें अभेद हो। चैतन्यसे भेद करके परमें अभेदत्व माने तो वह ज्ञान चेतनका विरोधी है।

आकाश जड़ द्रव्य है और उसमें ज्ञान नहीं है–ऐसा तो सामान्यतः अनेक जीव मानते हैं, परन्तु यहाँ मात्र आकाशका ही

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ-३६४२५०

अचेतनत्व सिद्ध नहीं करना है किन्तु आचार्यदेवने यहाँ गूढ़भाव भरे हैं। अकेले आकाशकी ओरका ज्ञान भी अचेतन है–ऐसा कहकर त्रिकाली आत्मस्वभावके साथ ज्ञानकी एकता बतलाते हैं। इससे वर्तमान ज्ञानमेंसे परका और पर्यायका भी आश्रय छोड़कर त्रिकाली द्रव्यका आश्रय करना बतलाया है।

(१९५) पात्र जीवको स्वोमुन्ख करनेका उपदेश

जिस जीवने कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र-कुतीर्थकी मान्यता छोड़ दी है, और जैनके नाम पर भी जो कल्पित मिथ्या मार्ग पर चलता है उसकी श्रद्धा छोड़कर सच्चे देव-गुरु-शास्त्रकी श्रद्धा–पहिचान की है और उनके कहे हुये आकाशादि द्रव्योंके विचारमें ही रुका है, परन्तु अपने स्वभावकी ओर उन्मुख नहीं होता—ऐसे पात्र जीवके लिये यहाँ उपदेश है कि हे जीव ! पर द्रव्योन्मुख होकर रागसहित जो ज्ञान जाने वह तेरा स्वरूप नहीं है, परन्तु चैतन्यस्वभावोन्मुख होकर ज्ञानकी जो अवस्था चैतन्यस्वभावमें अभेद होकर स्व-परको जाने वह तेरा स्वरूप है। चैतन्यस्वभावोन्मुख होकर उसमें लीन हुई पर्याय ही चैतन्यका सर्वस्व है।

(१९६) सत्की दुर्लभता और श्रोताकी पात्रता

यह बात आत्मस्वभावकी है। किन्हीं अन्य संप्रदायोंके साथ अथवा लौकिक बातोंके साथ इसका किंचित् मेल नहीं बैठ सकता; और यह बात अन्यत्र जहाँ-तहाँसे मिले ऐसी नहीं है। तथा जिसे आत्मकल्याणकी दरकार है, भवभ्रमणका डर है–ऐसे आत्मार्थीके अतिरिक्त दूसरे जीवोंको यह बात नहीं जम सकती। ऐसे मनुष्य अवतारमें आया और परम दुर्लभ सत्यवाणी सुननेका योग मिला, यदि इस समय स्वभावकी रुचिसे यह बात नहीं सुने–समझे तो फिर कब

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

सुनेगा ? अनंतकालमें ऐसी बात सुननेको मिलना दुर्लभ है।

(१९७) साधक जीवकी जागृति

अहो ! अनंत आकाशको लक्ष्यमें लेनेवाले–ऐसे ज्ञानको भी जो जीव 'अचेतन' मानेगा वह जीव राग-द्वेषको कैसे अपना मानेगा ? और उससे धर्म होना कैसे मानेगा ? परका कर्ता अपनेको कैसे मानेगा ? यह जीव तो अपनी ज्ञानपर्यायका भी आश्रय छोड़कर अपने परिपूर्ण स्वभावकी ओर उन्मुख होकर वहाँ लीन होगा। अहो, ऐसे भगवानकी ओर उन्मुख होकर वहाँ लीन होगा। अहो, ऐसे भगवान चैतन्यस्वभावकी स्वीकृतिमें कितना पुरुषार्थ है ! अपने मति-श्रुतज्ञानको स्वभावमें एक करके स्वभावके आश्रयसे मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ—ऐसा जिसने स्वीकार किया है उसकी ज्ञानचेतना जागृत हुई है, वह आत्मा स्वयं जागृत हुआ है, साधक हुआ है; और अब अल्पकालमें केवलज्ञान प्राप्त करनेवाला है।

(१९८) आत्मकल्याणकी अपूर्व बात

यह आत्मकल्याणकी अपूर्व बात है। यह जल्दीसे समझमें न आये तो अरुचि नहीं लाना चाहिये, परन्तु विशेष अभ्यास करना चाहिये। 'यह मेरे आत्माकी अपूर्व बात है, इसे समझनेसे ही कल्याण है'–इस प्रकार अंतरमें उसकी महिमा लाकर रुचिपूर्वक श्रवण–मनन करना चाहिये। समस्त आत्माओंमें यह समझनेकी शक्ति है। मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं वृद्ध हूँ, मैं बालक हूँ–ऐसी शरीरबुद्धि छोड़कर अंतरंगमें ऐसा लक्ष करना चाहिये कि मैं आत्मा हूँ, शरीरसे भिन्न ज्ञानस्वरूप हूँ, प्रत्येक आत्मा भगवान है–ज्ञानस्वरूपी है, उसमें परिपूर्णतया समझनेकी शक्ति भरी हुई है, इसलिये 'मेरी समझमें नहीं आता'–ऐसी शल्यको निकालकर 'मुझे सब समझमें आता है–ऐसी

मेरी शक्ति है'–ऐसा विश्वास करके समझनेका प्रयत्न करना चाहिये ! जो रुचिपूर्वक प्रयत्न करे उसकी समझमें न आये–ऐसा हो ही नहीं सकता। इसमें बुद्धिके विकासकी अधिक आवश्यक्ता नहीं है, परन्तु रुचिकी आवश्यक्ता है।

(१९९) स्वाश्रयी मेढ़कको धर्म और पराश्रयी द्रव्यलिंगीको अधर्म

ज्ञान तो आत्माका स्वभाव है और उसकी पर्याय यदि परोन्मुख होकर ही जाने तो भगवान उसे 'अचेतन' कहते हैं; क्योंकि वह ज्ञान स्वभावकी रुचिसे प्रगट नहीं हुआ है, परन्तु परकी रुचिसे रागकी मन्दता होकर प्रगट हुआ है। एक मेढकका आत्मा भी चैतन्यकी पर्यायको स्वोन्मुख करके एकाग्र करे तो उसके ज्ञानको चेतन कहा है, वह धर्मी है; उसके आत्मामें प्रतिक्षण धर्म होता है। और कोई दिगम्बर जैन द्रव्यलिंगी साधु होकर २८ मूलगुण तथा पंच महाव्रतोंका निरतिचार पालन करे, नवतत्त्वके व्यवहारकी श्रद्धा करे और ग्यारह अंग तक पढ़ ले, जैनदर्शनमें कही हुई पूर्ण व्यवहारकी रीति करे, परन्तु अपने स्वावलंबी चैतन्यस्वभावमें लक्ष्य न करे तो उसका सारा ज्ञान और चारित्र मिथ्या है; भगवान उसके ज्ञानको अचेतन कहते हैं। वह चाहे जितना करे परन्तु उसे धर्म नहीं होता, प्रतिक्षण अधर्म होता है। इसलिये बाह्यमें छोटे-बड़े शरीरके साथ या अंतरंग ज्ञानके विकासके साथ धर्मका संबंध नहीं है; परन्तु अपने ज्ञानमें स्वाश्रय करे या पराश्रय करे—उसके साथ धर्म-अधर्मका सम्बन्ध है। यदि स्वाश्रय करे तो मेढ़कका आत्मा भी धर्म प्राप्त करता है; और स्वाश्रय न करे तो द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि साधु भी धर्म प्राप्त नहीं करता।

(२००) मूल तात्पर्य

इस समस्त कथनका तात्पर्य संक्षेपमें समझना हो तो ऐसा है

कि–आत्माके ज्ञानको पर्यायबुद्धिसे हटाकर द्रव्यबुद्धिमें लाना–यही आत्मकल्याणका–हितका–श्रेयका–मोक्षका अथवा धर्मका मार्ग है; इसीमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपादिका समावेश हो जाता है। प्रथम तो अपने अंतरमें अपने आत्मस्वभावका उत्साह आना चाहिये। अपना स्वभाव समझनेके लिये उसके श्रवण-मननकी रुचि होनी चाहिये।

(२०१) अहो भगवान कुन्दकुन्द! और जगतका महाभाग्य!

अहो ! कुन्दकुन्दाचार्यदेवकी क्या बात करें? कुन्दकुन्दाचार्य तो भगवान कहलाते हैं ! उनका वचन अर्थात् केवलीका वचन। अंतरमें अध्यात्मस्रोत उछाले मार रहा था, एकदम केवलज्ञानकी तैयारी थी, वीतरागभावसे अंतरमें स्थिर होते-होते फिर छद्मस्थदशामें रह गये और विकल्प उठनेसे इन महान शास्त्रोंकी रचना हो गई। इतना जगतका महाभाग्य ! कि उनके द्वारा इन समयसार-प्रवचनसार जैसे महान परमागमोंकी रचना हो गई। इस समय तो वैसी शक्ति यहाँ नहीं है। सौराष्ट्रका भी महाभाग्य है कि गुजराती भाषामें वे शास्त्र प्रकाशित हो गये हैं।

(२०२) आत्मस्वभावकी भावना

व्याख्यानमें एक की एक बात बारम्बार कही जाती है, तो उसमें कहीं पुनुरुक्ति दोष नहीं होता, क्योंकि यह तो आत्मस्वभावकी भावना है; वह भावना बारम्बार करनेमें दोष नहीं है, परन्तु स्वभावकी दृढ़ता होती है–यह भावना तो बारम्बार करने योग्य है; बारम्बार आत्मस्वभावकी बात सुननेसे उसमें किंचित् अरुचि नहीं आना चाहिये। यदि आत्मस्वभावकी बात बारम्बार सुननेसे अरुचि हो तो उसे आत्माकी अरुचि है।

(२०३) भेदविज्ञानका सार कैसे प्रकट हो?

वर्तमान पर्याय परको और अपने अंशको ही स्वीकार करे, परंतु परसे भिन्न त्रिकाली पूर्ण आत्माको स्वीकार न करे तो वह अज्ञान है। राग सहित ज्ञानसे अनंत आकाशका ख्याल आया। उससे पराङ्मुख होकर अर्थात् आकाश द्रव्य तथा उस ओर उन्मुख होकर उसे जाननेवाले ज्ञानके अंशका आश्रय छोड़कर जीव परिपूर्ण ज्ञानस्वभावोन्मुख हुआ, वहाँ उसका ज्ञान राग रहित हुआ, अपूर्व भेदविज्ञान प्रगट हुआ; अनन्त कषायका नाश हुआ और ज्ञानके स्वरूपाचरणरूप अनंत चारित्र प्रगट हुआ, रागरहित ज्ञानस्वभावकी यथार्थ प्रतीति और अनुभवसे सम्यग्दर्शन हुआ। पहले जो ज्ञानपर्याय परमें रुकती थी उस पर्यायमें मिथ्याश्रद्धा–मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र था; और जब ज्ञानपर्याय स्वोन्मुख हुई तब उस पर्यायमें सम्यक्श्रद्धा–सम्यक्ज्ञान और अनन्त स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट हुआ। मति-श्रुतज्ञानको स्वभावोन्मुख करना वह भेदविज्ञानका सार है–उसकी यह बात है। मति-श्रुतज्ञानको स्वभावोन्मुख करनेके पश्चात् स्वभावसामर्थ्यकी प्रतीतिपूर्वक ज्ञानमें पर पदार्थ भी ज्ञात होते हैं; वह तो ज्ञानका ही स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्य है; वहाँ पर पदार्थ ज्ञात होते हैं, उससे कहीं ज्ञानमें दोष नहीं होता।

(२०४) देशनालब्धि और भेदविज्ञानका सार

आत्मज्ञानी पुरुषके उपदेशरूप देशनालब्धि मिलनेसे आत्मस्वभावकी जिसे रुचि हुई उसे मुक्तिके लिये भावी नैगमनय लागू हो गया अर्थात् वह जीव भविष्यमें मुक्ति प्राप्त करेगा,–ऐसा ज्ञानी जानते हैं। धर्म प्राप्त करनेवाले जीवोंके देशनालब्धि होती है–ऐसा नियम है। सत्समागमसे परमार्थ आत्मस्वभावका श्रवण करके उस स्वभावकी रुचिपूर्वक बारम्बार अभ्यास करके जब ज्ञान स्वसन्मुख होकर

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ-३६४२५०

आत्माको जानता है, तब पहले तो मतिज्ञानसे आत्माका अवग्रह होता है, फिर वही ज्ञान उपयोग विशेष दृढ़ होनेसे श्रुतज्ञानका उपयोग स्वभावमें स्थिर होता है। जो श्रुतज्ञान स्वभावमें अभेदरूपसे स्थिर हुआ उसे निश्चयनय कहते हैं, वही धर्म है, वही भेदविज्ञानका सार है। स्वभावकी ओर ढलते हुये ज्ञानको ही यहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इत्यादि कहा है।

(२०५) आकाशादिका ज्ञान अज्ञानीको मिथ्या और ज्ञानीको सम्यक्

अज्ञानीको आकाशादिका जो ज्ञान होता है वह सब मिथ्या है; क्योंकि वह स्वभावका आश्रय छोड़कर परमें एकत्वबुद्धिसे जानता है। ज्ञानीको आत्माकी पहिचान सहित जो आकाशादिका ज्ञान है वह सब सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञानमें स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य होनेसे पर पदार्थोंका ज्ञान भी सम्यक्ज्ञानमें मिल गया; परको जानते समय वह एकताबुद्धि पूर्वक नहीं जानता परंतु स्वभावका ही आश्रय रखकर जानता है, इसलिये वह ज्ञान मिथ्या नहीं है। तथापि ज्ञानीका स्वोन्मुख ज्ञानउपयोग और परोन्मुख ज्ञानउपयोग–दोनों पृथक् हैं। स्व-परके भेदविज्ञानके बलसे ज्ञानीके प्रतिक्षण स्वभावकी ओर ज्ञानकी उन्मुखता बढ़ती जाती है और परोन्मुखता दूर होती जाती है।

(२०६) भेदविज्ञानमें ही सामायिकादि आ जाते हैं

जो जीव आत्मा और ज्ञानको अभेद करे उसीके सच्चा समभाव अर्थात् सामायिक होती है; उस जीवने अपने स्वभावमें ही संतोष माना और सर्व परद्रव्योंमें अपनत्वकी बुद्धि छोड़ दी—उसका नाम प्रतिक्रमण है। उस जीवने शरीर और शरीरकी आहारादि क्रियाओंसे अपने स्वभावको भिन्न जानकर शरीरका स्वामित्व छोड़ दिया उसमें

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ-३६४२५०

चौविध आहारका त्याग आ गया। आत्माकी पर्यायको स्वभावमें ही लीन करनेसे—'तीनों कालके समस्त आहार मैं नहीं हूँ, उस ओरका राग मैं नहीं हूँ और उसके लक्ष्यसे उसका ज्ञान होता है–वह भी मैं नहीं हूँ–इस प्रकार उन सबसे भेदज्ञान हुआ इससे सम्यग्दृष्टि-भेदज्ञानी-धर्मात्माको श्रद्धामेंसे तीनोंकालके आहारका त्याग हो गया। इसमें कितने उपवास आ गये? प्रथम इस प्रकार श्रद्धाकी अपेक्षासे तीनोंकालके आहारका त्याग करनेके पश्चात् आत्मस्वरूपमें विशेष एकाग्र होनेसे स्वरूपसमाधिका आनंद बढ़ता जाता है और आहारादिकी इच्छाएँ दूर होती जाती हैं–उसका नाम तप है–वह चारित्र है। आत्माकी पहिचानके बिना आहारादिके रागको कम करे उसे कहीं उपवास नहीं कहते। परकी-शरीरकी और रागादिकी रुचि छोड़कर जो मति-श्रुतज्ञान-स्वभावोन्मुख हुआ वह मोक्षका कारण है। मन-वाणी-देहसे भिन्न चैतन्यको जानकर उसमें एकाग्र हुआ वहाँ शरीरादि परका लक्ष्य ही छूट गया–कायासे उपेक्षाभाव हो गया–उसे कायोत्सर्ग कहते हैं। इस प्रकार स्व-परका भेदज्ञान करके ज्ञानको स्वभावोन्मुख करनेसे उसमें समस्त धर्म आ जाते हैं। इससे ज्ञानको स्वभावमें एकाग्र करना वह भेदविज्ञानका सार है।

यहाँ परको जाननेवाले ज्ञान पर जोर नहीं दिया है, बारह अंगका ज्ञान अथवा जातिस्मरण आदि ज्ञान पर जोर नहीं है, परंतु स्वभावके लक्ष्यसे जो मति-श्रुतज्ञान स्वमें एकाग्र हो उसकी महिमा है–वह ज्ञान मोक्षका कारण है।

अध्यवसान (राग-द्वेष) और ज्ञानका भिन्नत्व

पाँचों जड़ द्रव्योंसे ज्ञानकी भिन्नताका वर्णन पूर्ण हुआ। अब आत्माकी अवस्थामें होनेवाले विकारी भावोंसे ज्ञानकी भिन्नता बतलाते हैं—

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

''अध्यवसान हैं वह ज्ञान नहीं है; क्योंकि अध्यवसान अचेतन है; इससे ज्ञान और अध्यवसान भिन्न हैं।'' स्वभावका आश्रय छूटकर कर्मके उदयके निमित्तसे जो राग-द्वेषादि विकारी भाव होते हैं उसे अध्यवसान कहते हैं वह ज्ञानका स्वरूप नहीं है।

(२०७) आत्माके ज्ञानका पर जीवोंसे भिन्नत्व

प्रश्न :—यहाँ टीकामें पाँच जड़ द्रव्योंसे और विकारी भावोंसे तो ज्ञानकी भिन्नता बतलाई; परंतु दूसरे जीवोंसे इस आत्माका ज्ञान पृथक् है–ऐसा क्यों नहीं कहा ?

उत्तर :–अध्यवसान है वह ज्ञान नहीं है–इसमें उस बातका समावेश हो जाता है; क्योंकि एक जीव अपने ज्ञानमें जब दूसरे जीवको लक्षमें लेकर उसका विचार करे तब अध्यवसानकी ही उत्पत्ति होती है। और अध्यवसानसे ज्ञानको भिन्न कहा है, इससे पर जीवके लक्ष्यसे होनेवाला ज्ञान भी वास्तवमें ज्ञान नहीं है–ऐसा उसमें आ जाता है।

सच्चे देव और गुरु भी अन्य जीव हैं; इस आत्मासे उनका आत्मा पृथक् है। अपने आत्माकी ओर ज्ञानको उन्मुख किये बिना, दूसरे आत्माका विचार करनेमें जो ज्ञान रुके वह अध्यवसान है और वह अचेतन है। अपना स्वरूप जाने बिना ज्ञान परको जाननेके लिये जाये तो वह परमें ही एकता मान लेता है–वह अध्यवसान है। उससे आत्माका ज्ञान नहीं होता।

(२०८) श्री देव-गुरुका माहात्म्य और उनकी परमार्थ विनय

शास्त्रोंमें सच्चे देव-गुरुके माहात्म्यका बहुत वर्णन होता है, परन्तु उनके लक्ष्यसे ज्ञानको रोक रखनेके लिये वह वर्णन नहीं है। स्त्री आदि विषय-कषायके निमित्तोंका माहात्म्य तथा कुदेव-कुगुरुका

माहात्म्य छुड़ाने और जीवको अपना स्वच्छंद छुड़ानेके लिये सच्चे देव-गुरुका माहात्म्य है। श्री देव-गुरु तो आत्माके चैतन्यस्वभावका ही माहात्म्य बतलाते हैं। अपने चैतन्यस्वभावकी महिमाको भूलकर जो जीव मात्र देव-गुरु इत्यादि निमित्तोंकी महिमा करनेमें ही रुक जाता है उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता। वास्तवमें तो अपने आत्मस्वभावका आश्रय करनेमें ही श्री देव-गुरुकी परमार्थविनय आती है; क्योंकि श्री देव-गुरुने जैसा कहा था वैसा स्वयं अपने आत्मामें किया–इससे उसीमें देव-गुरुकी आज्ञा और परमार्थविनय आयी। पश्चात् जहाँ तक शुभराग हो वहाँ तक सच्चे देव-गुरुके प्रति भक्ति-बहुमान-विनय और सर्वस्व अर्पणताके भाव आते हैं; परंतु आत्माके भिन्नत्वके भान बिना निमित्तके लक्षमें रुक जाये तो आत्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकेगा।

श्री देव-गुरु-शास्त्र तो ऐसा बतलाते हैं कि वस्तुका अनेकांत स्वभाव है; आत्मा आत्मारूप है और अन्य देव-गुरु-शास्त्ररूप अथवा रागरूप नहीं है। एक आत्मा दूसरे आत्मारूप नहीं है। यदि रागमें एकाग्र होकर देव-गुरु-शास्त्रका विचार करे तो वह अध्यवसान है, अध्यवसान अचेतन है।

(२०९) चैतन्यके लक्ष्य बना जो है–वह सब मिथ्या है

आजकल लोगोंमें जैन धर्मके नामसे जो बात चल रही है उसमें मूलसे ही अन्तर है। मूल आत्मस्वभावकी दृष्टिके बिना शास्त्रादिसे हजारों बातें जान ले, परन्तु उनमें एक भी बात सत्य नहीं होती। पूर्वकी मानी हुई सारी बातोंको व्यर्थ समझकर यह बात सुने तो अंतरंगमें जम सकती है। जिस प्रकार कुंभार एक साथ मिट्टी लाकर उसमें हजारों बर्तन बनाता है; परन्तु यदि मिट्टीमें चूनेका कुछ अंश हो तो जब वह बर्तनोंको भट्टीमें डाले (अग्निमें पकाये) उस समय एक भी बर्तन

साबित नहीं रहता–सारी भट्टीको निकालकर फिरसे मिट्टी लाकर बर्तन बनाना पड़ते हैं। उसी प्रकार चैतन्यतत्त्वके लक्ष्य बिना जो कुछ किया वह सब सत्यसे विपरीत होता है; सम्यग्ज्ञानकी कसौटी पर कसनेसे उसकी एक भी बात सच्ची नहीं निकलती। इसलिये जिसे आत्मामें अपूर्व धर्म करना हो उसे अपनी मानी हुई पूर्वकी सभी बातें अक्षरशः मिथ्या थीं–ऐसा समझकर ज्ञानकी सम्पूर्ण उन्मुखता बदल देना पड़ेगी। परन्तु यदि अपनी पूर्वकी बातको बनाये रखे और पूर्वकी मानी हुई बातोंके साथ इस बातको मिलाने जाये–तो अनादिकी जो गड़बड़ी चली आ रही है वह नहीं निकलेगी और यह अपूर्व सत्य समझमें नहीं आयेगा।

(२१०) स्वभावका सच्चा ज्ञान ही देव-गुरु-शास्त्रकी परमार्थभक्ति है

अनादिसे अज्ञानी जीवोंको मिथ्या मति-श्रुतज्ञान होते हैं और साधक ज्ञानीके सम्यक् मति-श्रुतज्ञान होते हैं, उन्हींकी बात यहाँ पर चल रही है। मिथ्याज्ञान दूर होकर सम्यक्ज्ञान किस प्रकार होता है–उसका यह उपाय कहते हैं। अपने स्वभावका आश्रय छोड़कर दूसरे जीवका विचार करे तो वह रागका कार्य है, वह श्रुतका अध्यवसाय है परन्तु सम्यक् श्रुतज्ञान नहीं है। देव-गुरु-शास्त्रकी भक्ति, महिमा, पूजा, प्रभावना आदिके शुभरागसे सम्यग्ज्ञानका विकास माने उस जीवके शुभराग और ज्ञानकी एकताका अभिप्राय है, वह मिथ्या अध्यवसान है। श्री देव-गुरु-शास्त्रने तो ज्ञान और रागको भिन्न बतलाकर ज्ञानस्वभावका आश्रय करनेको कहा है; जिस जीवने वैसा न किया उसने देव-गुरु-शास्त्रकी परमार्थभक्ति नहीं की है। देव-गुरु-शास्त्रके रागका आश्रय छोड़कर अपने आत्मस्वभावका सच्चा ज्ञान

करे–उस सच्चे ज्ञानमें ही देव-गुरु-शास्त्रकी परमार्थभक्ति और उनकी विनयका समावेश हो जाता है।

(२११) ज्ञान और रागका भेदज्ञान अनेकान्त धर्म है

आत्माका ज्ञान रागरूप नहीं है। जो ज्ञान रागमें रुककर जानता है उस ज्ञानको जो आत्माका साधन माने उस जीवको ज्ञान और रागमें एकत्वकी बुद्धि है। ज्ञानमें राग नहीं है और रागमें ज्ञान नहीं है, ज्ञानके आधारसे राग नहीं है और रागके आधारसे ज्ञान नहीं है ऐसा समझना वह अनेकान्त धर्म है। परन्तु जो रागको ज्ञानका कारण माने उसने ज्ञान और रागको भिन्न नहीं परन्तु एक ही माना है–वह एकान्तवाद है–अधर्म है–मिथ्या अध्यवसाय है। ज्ञानको स्वभावोन्मुख करके एकाग्र होना वह धर्म है।

(२१२) राग और ज्ञानका भेदज्ञान करे–तभी राग दूर होता है

चैतन्यस्वभावके आश्रयसे प्रगट हुई पर्याय–वह चैतन्यका स्वभाव है, और चैतन्यस्वभावकी ओरसे उन्मुखता दूर होकर जिनेन्द्र भगवान-गुरु अथवा शास्त्रके लक्ष्यसे जो ज्ञान हो वह चेतनका स्वभाव नहीं है, और उससे संवर-निर्जरा नहीं होते। पर्यायमें चेतनत्व-चेतनके साथ एकत्व हुये बिना संवर-निर्जरा कहाँ होंगे ? और रागका अभाव किसके बलसे होगा ? यथार्थ चैतन्यस्वभावकी प्रतीति बिना वास्तवमें रागादि दूर नहीं होते और राग कम हुआ भी नहीं कहलाता। राग रहित स्वभावकी स्वीकृति पूर्वक रागसे आत्माकी भिन्नता जानकर जो राग कम हो वह राग कम हुआ कहलाता है। जो रागको ही अपना स्वरूप माने उसे राग कम हुआ कैसे कहा जायेगा ?

(२१३) आत्मज्ञानके लिये प्रयत्न करनेवाले जीवके राग अवश्य कम होता है

प्रश्न :—प्रभो ! आपने जो कहा कि–'आत्माके ज्ञान बिना यथार्थतया रागादि कम नहीं होते'—इसलिये आत्मज्ञान न हो वहाँ तक हमें रागादि कम नहीं करना चाहिये ?

उत्तर :—भाई ! यह बात तो बराबर है कि–आत्माके ज्ञान बिना वास्तवमें रागादि कम नहीं होते; परन्तु इससे उसका तात्पर्य यह हुआ कि आत्माको समझनेका प्रयत्न करना। अब, जो जीव आत्मस्वभावको समझनेका प्रयत्न करे उसके रागादि कम हुये बिना नहीं रहेंगे। परन्तु जो राग कम हुआ उसकी मुख्यता नहीं है, किन्तु आत्मज्ञानकी मुख्यता है–यह नहीं भूलना चाहिये; अर्थात् मंद रागको धर्म नहीं मानना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं है कि–आत्माको न समझे तबतक तो स्वच्छंदरूपसे वर्तन करना चाहिये ऐसे के ऐसे तीव्र पाप करते रहना। तथा विषय-कषाय बिल्कुल ही नहीं छोड़ना ! पुण्य भी आत्माका स्वरूप नहीं है–ऐसी बात जिसे रुचे–अर्थात् पुण्य रहित आत्मस्वभाव जिसे रुचे वह जीव पुण्यका आदर कैसे करेगा ? वैसे जीवको विषय-कषायकी रुचि नहीं होती, सत्स्वभावके प्रति और सत् निमित्तोंके प्रति बहुमान आनेसे संसारकी ओरका अशुभराग अत्यन्त मंद हो जाता है। इसके बिना तो धर्मी होनेकी पात्रता भी नहीं होती। जिसे आत्माका ज्ञान हुआ हो उसे तो खूब प्रयत्न करके अशुभ रागादिको कम करके आत्माको समझनेका अभ्यास करना चाहिये। यदि ऐसा न करे और जैसाका वैसा अशुभमें ही वर्तता रहे तो आत्माकी समझ कहाँसे होगी ?

(२१४) देशनालब्धिके बिना धर्म नहीं होता

जो ज्ञान स्वभावसे होनेवाली प्रवृत्ति न करे और कर्मके आश्रयसे प्रवृत्ति करे वह चेतना नहीं है। चेतनस्वभावके आश्रयसे जो उत्पन्न हो वह चेतन है और चेतनस्वभावके आश्रयसे जो भाव उत्पन्न न हो वह अचेतन है। ऐसी आत्मस्वभावकी बात जगतके जीवोंने नहीं सुनी है, तब फिर अंतरमें विचार करके प्राप्त कहाँसे करें? और कब उसकी रुचि करके आत्मामें परिणमित करें?

परोन्मुख और स्वोन्मुख मति-श्रुतज्ञानका भिन्नत्व है;—ऐसा समझकर स्व और परका भेदज्ञान करके अंतरस्वभावोन्मुख होता हुआ ज्ञान–वह अपूर्व आत्मधर्म है।

[८]

(वीर सं. २४७४, भाद्रपद शुक्ला ३, सोमवार)

(२१५) लोग धर्म धर्म रटते हैं; परन्तु धर्म कैसे होता है?

आत्माको धर्म कैसे होता है? अर्थात् आत्माको शांति कैसे होती है? उसकी बात चल रही है। कोई भक्तिमें, कोई दयामें, कोई पूजामें या दानादिमें धर्म मान रहे हैं। रास्ता चलते हुये भिखमंगे भी कहते हैं कि—भाई! एक बीड़ी देना! आपको धर्म होगा! इस प्रकार जगतके जीव धर्म धर्म रट रहे हैं; परन्तु धर्मका यथार्थ स्वरूप क्या है? वह वे नहीं जानते–इससे संसारमें परिभ्रमण करते रहते हैं। यदि एक क्षणमात्र भी धर्म का सच्चा स्वरूप समझ ले तो वे जीव संसारमें भ्रमण न करें। अपनेको अपने आत्मामें अधर्म दूर करके धर्म करना है, इससे अपना आत्मस्वरूप जाने बिना किसीको धर्म नहीं होता।

आत्मा एक स्वतंत्र पदार्थ है। जिस प्रकार लकड़ी, पुस्तक आदि पदार्थ दिखाई देते हैं उसी प्रकार आत्मा भी एक पदार्थ है। लकड़ी आदिको जाननेवाला तत्त्व आत्मा है। लकड़ी अचेतन है और क्षणिक संयोगी है, परन्तु आत्मा असंयोगी है, अनादि-अनंत ज्ञान-दर्शनस्वभाववाला है। उसकी अवस्थामें धर्म कैसे हो? परके संगसे अथवा परके आधारसे आत्माको धर्म नहीं होता; परन्तु अपना पूर्ण स्वभाव है उसकी प्रतीति और आश्रय करनेसे धर्म होता है। इसलिये स्वयं कौन है? और पर क्या है? उसे समझ लेना चाहिये। शरीर, मन, वाणी, लक्ष्मी, देव-गुरु-शास्त्र—यह समस्त पदार्थ आत्मासे पर हैं–भिन्न हैं; उनसे तो इस आत्माको धर्म या पुण्य-पाप नहीं होते।

आत्माकी अवस्थामें जो पुण्य-पाप हो वह भी आत्माके चेतन स्वभावसे पर है–अचेतन है–विकार है; उसके आधारसे भी धर्म नहीं होता। इन सबसे रहित अपना ज्ञानस्वभाव है उस स्वभावके साथ पर्यायकी एकता करनेसे ही धर्म होता है—यह बात यहाँ पर आचार्यदेव समझाते हैं।

(२१६) विकारसे और पर जीवोंसे ज्ञानका भिन्नत्व

स्वभावमें ज्ञानकी एकता करानेके लिये यहाँ पर आचार्यदेव ज्ञानका परसे भिन्नत्व बतलाते हैं। अध्यवसान ज्ञान नहीं है, क्योंकि अध्यवसान अचेतन है; इसलिये ज्ञान और अध्यवसानमें भिन्नता है। कर्मके उदय ही प्रवृत्तिमें युक्त होनेसे आत्माकी वर्तमान अवस्थामें जो पुण्य-पाप होते हैं वह विकारभाव है, उसे अध्यवसान कहते हैं। वह धर्मका कारण नहीं है क्योंकि वह अध्यवसान ज्ञानसे भिन्न है। प्रथम पाँच अजीव द्रव्योंसे ज्ञानस्वभाव पृथक् बतलाया; अब अंतरंगमें जो विकारभाव होते हैं उनसे भिन्नत्व बतलाते हैं। यहाँ किसीको प्रश्न उठे कि 'पर जीवोंसे इस आत्माका ज्ञान भिन्न है–यह बात क्यों नहीं कही ?' उसका उत्तर :—अध्यवसानसे भिन्न कहा–उसीमें पर जीवोंसे भी इस आत्माका ज्ञानस्वभाव पृथक् है–यह बात भी आ जाती है। क्योंकि पर जीवोंके लक्ष्यसे अध्यवसानकी ही उत्पत्ति होती है; इससे अध्यवसानसे भिन्नत्व कहनेसे अन्य जीवोंसे भी भिन्नत्व समझ लेना।

(२१७) शुभ या अशुभराग आत्माकी जाति नहीं है, और न वह धर्मका कारण है

आत्माके ज्ञानस्वभावसे बाहर लक्ष्य जानेसे जो भाव होते हैं, वे आत्माके स्वभावसे विरुद्ध हैं, वे भाव आत्माकी अवस्थामें होते हैं, परन्तु वे विकार हैं, ज्ञानस्वभावसे भिन्न हैं, इससे धर्मके कारण नहीं

हैं। अन्तरंगमें पैसा कमानेके भाव अथवा खाने-पीने आदिके भाव– वे पापभाव हैं और दया-दान-भक्ति आदिके भाव पुण्यभाव हैं; वे दोनों भाव अध्यवसान हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि वह अध्यवसान अचेतन है, उसमें ज्ञान नहीं है, दर्शन नहीं है, चारित्र नहीं है, धर्म नहीं है, सुख नहीं है। आत्मस्वभाव उस अध्यवसानसे पृथक् है। अज्ञानीजन उस अध्यवसानको आत्मा मानते हैं और उससे धर्म मानते हैं—वह उनका मिथ्यात्व है। पुण्य-पापके भाव तो चैतन्यकी जागृतिको रोकते हैं इससे वे अचेतन हैं। जिसके ज्ञानमें आत्माका चैतन्यस्वभाव नहीं आता वह जीव अचेतन पुण्य परिणामोंको आत्मा मानता है; यहाँ ज्ञानस्वभावको उन पुण्य-पापसे भिन्न समझ कर भेदविज्ञान कराते हैं।

जैसे-जिस पेटीमें सोना रखा हो उस पेटीसे तो सोना पृथक् ही है और सोनेके साथ तांबेका भाग है वह सोनेमें एकमेक जैसा लगता है, तथापि सोना तो उससे भी पृथक् है। उसी प्रकार यह शुद्ध चैतन्यस्वरूपी भगवान आत्मा शरीर-मन-वाणी-पैसा आदि जड़से तो पृथक् ही है और पर्यायमें जो राग-द्वेषादि विकारभाव हैं उनसे भी वास्तवमें पृथक् ही है। अज्ञानीको राग और ज्ञान एकमेक मालूम पड़ता है, परन्तु ज्ञान तो रागसे पृथक् ही है। ज्ञान तो सबको जानता ही है इससे वह आत्मा है, और राग-द्वेषादि भाव कुछ भी नहीं जानते इससे वे अचेतन हैं, आत्मासे पृथक् हैं, आत्माके धर्ममें वे बिल्कुल सहायता नहीं करते। शुभ या अशुभ राग-द्वेष आत्माकी जाति नहीं है परन्तु आत्मस्वभावसे विरुद्ध जाति है–वह आत्माको धर्मका कारण नहीं हैं, क्योंकि स्वयं अधर्म है। इस प्रकार ज्ञानस्वभावको और रागादि भावोंको भिन्न जानकर अपने ज्ञानस्वभावकी ओर उन्मुख होना वह धर्म है।

(२१८) ज्ञानी पुण्य-पाप रहित आत्माको समझनेके लिये कहते हैं

हिंसा-चोरी-विषयभोगादि पापभावोंकी अपेक्षा तो दया ब्रह्मचर्यादि भाव ठीक हैं; पापकी अपेक्षासे उन्हें पुण्य कहा जाता है। परन्तु उस पुण्यको धर्मका कारण माने तो मिथ्यात्वरूप महापाप होता है। कोई जीव पाप छोड़कर पुण्य करे और उसे धर्म माने तो उस जीवको मिथ्यात्वके महापापमें कुछ भी फेर नहीं पड़ा है; परन्तु इससे ज्ञानी पुण्य छोड़कर पापमें जानेके लिये नहीं कहते हैं, परन्तु पुण्य-पाप रहित स्वभावकी अपूर्व प्रतीति करनेको कहते हैं। पाप छोड़कर पुण्य अनन्तबार किये, वह अपूर्व नहीं है, परन्तु पुण्य-पाप रहित ज्ञानस्वभाव अनादिकालसे कभी नहीं समझा उसे समझ लेना ही अपूर्व धर्म है।

(२१९) अज्ञान और सम्यग्ज्ञान

पैसा, शरीरादिको अपना माने, और उनको मैं कर सकता हूँ— ऐसा माने वह जीव तो महान स्थूल अज्ञानी है; रागादि भावोंको आत्मा माने वह भी अज्ञानी है और उस रागकी ओर ढलते हुये ज्ञान जितना आत्माको माने तो वह भी अज्ञानी है। रागमें रुकनेवाला जो ज्ञान है वह आत्मा नहीं है परन्तु स्वभावमें स्थिर होनेवाला जो ज्ञान है वह आत्मा है। यहाँ द्रव्य-पर्यायकी अभेदतासे निर्मल पर्यायको आत्मा कहा है; क्योंकि निर्मल पर्याय और आत्मा अभेद हैं। शरीरके हलन-चलनकी या लक्ष्मीके आने–जानेकी क्रियाएँ तो आत्मा नहीं करता; आत्मा लक्ष्मी आदिमें ममताभाव करे वह पाप है और तृष्णाको कम करे वह पुण्य है वे पुण्य-पापके भाव कर्म नहीं कराता, परन्तु आत्मा अपनी अवस्थामें करता है; परन्तु वे पुण्य-पापके भाव आत्माके

ज्ञानस्वभावसे पृथक् हैं इससे अचेतन हैं और इसीसे उस पुण्य-पापके लक्ष्यसे होनेवाला ज्ञान भी आत्मस्वभाव नहीं है,—इन सबका लक्ष्य छोड़कर परिपूर्ण ज्ञानस्वभावकी ओर उन्मुख होकर पूर्ण स्वभावके विश्वाससे जो ज्ञान प्रगट हो वह सम्यग्ज्ञान है, वह आत्माके साथ एकत्व रखता है और वह मोक्षका कारण है।

(२२०) पाप और पुण्य–दोनोंकी एक ही जाति है

पाप की अपेक्षा पुण्यमें मंदकषाय है; परन्तु वह भी कषायका ही प्रकार है। पुण्यभावमें धर्म नहीं है। जिस प्रकार पाप अधर्म है उसी प्रकार पुण्य भी अधर्म है।

(२२१) जिसके चैतन्यका पुरुषार्थ नहीं वह नपुंसक है

जो वस्तु आत्मासे पृथक् हो उससे आत्माको लाभ नहीं होता; और उस पर वस्तुके लक्ष्यसे भी आत्माको लाभ नहीं होता। आत्माके स्वभावके लक्ष्यसे ही आत्माको लाभ होता है। लाभ कहो, शांति कहो, हित कहो, सुख कहो अथवा धर्म कहो–वह सब एकार्थ हैं। बाह्यमें अनुकूल संयोग आएँ उसे अज्ञानी जीव लाभ मानते हैं और उन पदार्थोंमें सुख मानते हैं, परन्तु अपने स्वभावमें सुख है उसे नहीं मानते। मुझमें सुख नहीं है और पैसेमें सुख है—ऐसा माननेवाले जीव अपनेको निर्माल्य–पुरुषार्थरहित मानते हैं। अपने स्वभावसामर्थ्यको जाननेका पुरुषार्थ न करनेवाले और परमें सुख माननेवाले जीवोंको आचार्यदेव नपुंसक कहते हैं। पुरुष तो उसे कहते हैं जो स्वभावका पुरुषार्थ प्रगट करे। जो शुद्ध आत्मस्वभावको नहीं जानते उन्हें नामर्द कहा है। आत्माके असाधारण लक्षणको नहीं जानते उन्हें नपुंसक कहा है। (हिन्दी समयसार पृष्ठ ८१) आत्मामें

ही आनन्द सामर्थ्य है, परन्तु उस आनन्दका उपभोग करनेकी शक्ति जिनमें नहीं है वे जीव परमें आनन्द मानते हैं और पर विषयोंको देखकर संतुष्ट होते हैं–वह नामर्दीका चिह्न है। स्वभावकी श्रद्धा नहीं करते और परमें सुख मानते हैं उनके चैतन्यका पुरुषार्थ नहीं है।

आत्मा स्वयं पुरुष है; अनंतगुणोंमें रहकर आनंदका स्वतंत्ररूपसे उपभोग करनेवाला पुरुष है, चैतन्यस्वभावी भगवान है, पुरुषार्थका सागर है; उसके असाधारण चैतन्यस्वभावका जो अनुभव नहीं करता और पर्यायमें पुण्य-पाप होते हैं उन्हींको धर्म मानता है—वह जीव चैतन्य-पुरुषार्थसे रहित नपुंसक है।

(२२२) भवभ्रमण दूर करनेका उपाय

आत्माका चैतन्यस्वभाव परसे भिन्न है और पुण्य-पापरूप अध्यवसानसे भी पृथक्, साक्षीस्वरूप ज्ञाता है;—ऐसे अपने आत्माकी जिसे श्रद्धा नहीं है–विश्वास नहीं है–खबर नहीं है, वह जीव 'मैं परका करूँ'—ऐसा मानता है और पुण्य-पापादि अध्यवसानको ही आत्मा मानता है। आत्मा स्वयं भगवान, चैतन्यप्रकाशकी मूर्ति है, चैतन्यत्वसे उसकी महिमा है; जो क्षणिक विकार होता है वह चैतन्यकी जाति नहीं है। उस विकारसे जो अपनेको लाभ मानता है अथवा विकारको आत्मा मानता है। उस जीवका ज्ञान विकारको जाननेमें ही रुक जाता है, परन्तु विकारसे छूटकर वह अपने ज्ञानको स्वभावोन्मुख नहीं करता, और इससे उसे धर्म नहीं होता—भवभ्रमण नहीं टलता। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि अपने आत्मस्वभावको समस्त अन्य द्रव्योंसे और उनके निमित्तसे होनेवाले अन्य भावोंसे वास्तवमें पृथक् देखना-अनुभवन करना–यही भवभ्रमण टालनेका उपाय है।

(२२३) अज्ञानीका पागलपन

ज्ञानमूर्ति आत्मा समस्त पर द्रव्योंसे भिन्न है। परद्रव्योंसे भिन्न कहनेसे रागादि भावोंसे भी भिन्न समझना चाहिये। यहाँ रागादिको भी परद्रव्यमें गिना है। आत्माके स्वभावसे रागादि नहीं होते परन्तु पर द्रव्यके निमित्तसे होते हैं–इससे वे भी परद्रव्य हैं। अज्ञानी जीव उन्हें अपना स्वरूप मानता है। जिस प्रकार किसीको पागल कुत्तेने काटा हो और उसका विष लागू हो गया हो, उसे मरनेकी तैयारी होने पर पागलपन होता है। उसी प्रकार अज्ञानीको मिथ्यात्वरूपी पागलपन लागू हो गया है–इससे वह बावरा हुआ है स्व द्रव्य और पर द्रव्यका स्वरूप क्या है—उसका भान भूल गया है; उसे अपने चैतन्यकी खबर नहीं है और बाह्यमें सुखके लिये दौड़ रहा है ! उसे यहाँ समझाते हैं कि भाई ! आत्माकी पर द्रव्योंसे और पुण्य-पापसे भिन्नता है। परको और पुण्य-पापको जाननेसे वहीं रुक जाये–ऐसा तेरे ज्ञानका स्वरूप नहीं है। अपने परिपूर्ण ज्ञानस्वभावमें एकता करके जानना–ऐसा तेरे ज्ञानका स्वरूप है; उस स्वरूपको तू देख !

(२२४) विकार आत्माका स्वरूप नहीं है

जो आत्मस्वरूप हो वह कभी आत्मासे पृथक् नहीं होता। शुभ या अशुभ विकारभाव आत्माका स्वरूप नहीं हैं इससे वे आत्मासे अलग हो जाते हैं अर्थात् उनका नाश हो जाता है। ज्ञान आत्माका स्वरूप है उसका कभी नाश नहीं होता। विकारी भाव आत्मवस्तुके आश्रयसे नहीं होते परन्तु परवस्तुके आश्रयसे होते हैं, वे भाव आत्माका स्वरूप नहीं हैं। विकारी भावोंका सम्पूर्ण अभाव होकर ज्ञान पूर्ण रह जाता है, परन्तु ज्ञानका कभी भी सर्वथा अभाव नहीं होता; क्योंकि ज्ञान ही आत्माका स्वभाव है—विकार आत्माका स्वभाव नहीं है।

* भेदविज्ञानके लिये प्रेरणा *

(२२५) आत्माका सर्व पर द्रव्योंसे भिन्न अनुभवन करना चाहिये

इस प्रकार आत्माके ज्ञानस्वभाव को समस्त परसे भिन्न देखना चाहिये। किस प्रकार देखना चाहिये ?—पूर्ण ज्ञानस्वभाव है वह मैं हूँ, इसके अतिरिक्त अन्य कोई भाव मैं नहीं हूँ—ऐसा बराबर जानकर, परोन्मुख होते हुये अपने ज्ञानको स्वभावोन्मुख करके शुद्ध आत्माका अनुभव करना चाहिये। मैं चिदानन्दस्वरूप हूँ, रागादि कोई भी भाव मेरे नहीं हैं, पर द्रव्यों अथवा पर भावों के आश्रित मेरा ज्ञान नहीं है– इस प्रकार परसे भिन्नत्व जानकर, वहाँसे ज्ञानको हटाकर आत्मस्वभावके आश्रयसे ज्ञानको एकाग्र करके अनुभव करना–वह अनंतकालमें न किया हुआ–ऐसा अपूर्व आत्मधर्म है। चतुर्थ गुणस्थानमें मति श्रुतज्ञानसे ऐसा अनुभव होता है।

(२२६) आत्माका किसके बिना नहीं चलता ?

प्रत्येक वस्तु स्वाधीनरूपसे अपना कार्य कर रही है। कभी कोई वस्तु दूसरेके साथ मिलकर कार्य नहीं करती। यह आत्मा कभी किसी परवस्तुके कारण नहीं निभता ! पर द्रव्योंका तो आत्मामें अभाव ही है। अज्ञानी जीवको स्व-परमें एकत्वबुद्धि होनेसे वह ऐसा मानता है कि मेरा परवस्तुके बिना नहीं चल सकता; परन्तु ऐसा माननेवाला अज्ञानी जीव भी प्रतिक्षण परवस्तुके बिना ही चला रहा है। पैसा, शरीरादि पदार्थ न हों उस समय क्या आत्माका परिणमन रुक जाता है ?–अथवा आत्माका नाश हो जाता है ? ऐसा तो नहीं होता। आत्माका ज्ञान सदैव अपने स्वभावसे ही परिणमित होता है और आत्मा सदैव ज्ञानसे ही जीवित रहता है। यदि ज्ञान न हो तो आत्मा ही न हो, अर्थात् ज्ञानके बिना आत्माका एक पल भी नहीं चल सकता।

परद्रव्य और रागके बिना भी आत्माका चलता है। सिद्ध भगवानको कहीं परद्रव्यका संयोग या राग नहीं है, अकेले ज्ञानसे ही उनका आत्मा स्थित है। प्रत्येक आत्मा सदैव अपने ज्ञानस्वभावसे और परके अभावसे ही स्थित रहता है। इस प्रकार धर्मार्थी जीवोंको अपने आत्माको सर्व परसे भिन्न ज्ञानस्वभावरूप निश्चित करना चाहिये। अपने ज्ञानस्वभावोन्मुख होकर सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान प्रकट करूँ वह मेरा स्वरूप है, परसे मुक्त और विकारसे भी मुक्त—ऐसा मेरा परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव है, उस स्वभावके आश्रयसे जानना मेरा स्वरूप है;—इस प्रकार अपने आत्माका अनुभव करना ही अनन्तकालके जन्म-मरणोंसे छूटनेका एक ही उपाय है।

(२२७) अधर्म क्या है और वह कैसे दूर होता है?

अपना ज्ञानस्वभाव राग रहित है; जिसे अपने ज्ञानस्वभावका अनुभव नहीं है वह जीव रागको अपना स्वरूप मानकर रागका कर्ता होता है; और जो रागका कर्ता होता है वह जीव ऐसा मानता है कि मेरे रागके कारण परद्रव्यमें कार्य होता है–अर्थात् मैं परका कर्ता हूँ। ऐसी विपरीत मान्यतामें ज्ञान, राग और परद्रव्यमें एकताबुद्धि है-वही महान अधर्म है। वह अधर्म कैसे दूर होता है? उसका उपाय यहाँ आचार्यदेव बतलाते हैं। रागसे और परसे भिन्न ज्ञानस्वभाव है—उसे पहिचाने तो राग और पर द्रव्यमें एकत्वबुद्धि टले तथा ज्ञान अपने स्वभावरूप हो–उसीका नाम धर्म है।

(२२८) जीवका कर्तव्य

जीवके रागका कार्य परमें नहीं होता। स्त्री, पुत्रादि जब मृत्यु-शय्या पर पड़े हों तब, यदि वे बच जायें तो अच्छा हो,–इस प्रकार स्वयं अत्यंत राग करता है, तथापि वे मर जाते हैं; अपने रागके कारण

उसमें कुछ भी फेरफार नहीं होता। स्वयं तो परसे भिन्न है। स्वयं अपनेमें राग कर सकता है परन्तु परमें कुछ नहीं कर सकता–ऐसा यदि यथार्थरूपसे समझे तो परकी ओरसे हटकर अपने ज्ञानस्वभावकी ओर उन्मुख हो और रागका भी कर्ता न हो। हे भाई ! तुझे प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि तेरा राग परमें कुछ भी नहीं कर सकता। जिस प्रकार परके लिये तेरा राग व्यर्थ है, उसी प्रकार वह राग स्वयं आत्माको भी कोई लाभ नहीं करता। यदि स्त्री-पुत्र-शरीरादि पदार्थ तेरे हों, तो उन पर तेरा अधिकार क्यों नहीं चलता ? तेरी इच्छानुसार ही वे पदार्थ परिणमित क्यों नहीं होते ? इसलिये तू अपने ज्ञानमें ऐसा निर्णय कर कि–मेरा ज्ञानस्वरूप समस्त परपदार्थोंसे भिन्न है; पर पदार्थोंके ओरकी उन्मुखतासे रागकी उत्पत्ति होती है–उससे भी भिन्न है और परोन्मुख होकर जो ज्ञान रागमें अटक जाता है उससे भी मेरा ज्ञानस्वरूप पृथक् है;–ऐसा जानकर अपने ज्ञानस्वरूप आत्माकी ओर उन्मुख हो, उसीका अभ्यास कर, उसीकी रुचि–मंथन–श्रद्धा और अनुभव कर ! निरंतर यही करने योग्य है।

इस प्रकार आत्माको सर्व परसे भिन्न बतलाकर आचार्यदेवने उसका अनुभव करनेकी प्रेरणा की है।

* * *

* जीवके साथ ज्ञानकी एकता *

पर द्रव्योंसे आत्मा भिन्न है–ऐसा बतलाया; तो फिर आत्मा अपने स्वरूपसे कैसा है ? वह अब बतलाते हैं। आत्माका ज्ञान स्पर्शादिसे भिन्न, धर्म-अधर्म-आकाश-कालसे भिन्न और पुण्य-पापसे भी बिलकुल भिन्न है–ऐसा बतलाया। अब ज्ञान अपने आत्मासे किंचित् भिन्न नहीं है, परन्तु एकमेक है–अभेद है–ऐसा बतलाते हैं।

प्रथम नास्ति अपेक्षासे (परके साथ व्यतिरेकपनेसे) ज्ञानका स्वरूप बतलाया; अब अस्ति अपेक्षासे (अपने साथ अन्वयपनेसे ज्ञानका स्वरूप बतलाकर आत्माकी पहिचान कराते हैं—"**जीव ही एक ज्ञान है, क्योंकि जीव चेतन है इसलिये ज्ञानका और जीवका अव्यतिरेक (अभिन्नत्व) है।**"

(२२९) किस ज्ञानको जीवके साथ एकता है?

जीव ही चेतन है। जो ज्ञान जीव स्वभावकी ओर ढलकर जीवके साथ अभेद हो वह ज्ञान ही चेतन है और वह स्वयं जीव है। शरीरादि पर वस्तुएँ तो जड़ हैं, उनमें ज्ञान नहीं है; पुण्य-पापभाव भी चेतन नहीं हैं और पर लक्षमें रुककर होनेवाला ज्ञानका क्षणिक विकास भी चेतन नहीं है। जिस ज्ञानसे आत्माको लाभ नहीं होता और जो ज्ञान आत्माके लक्षसे एकाग्र नहीं होता वह ज्ञान आत्माका स्वरूप नहीं है; इससे परमार्थतः वह ज्ञान आत्मासे भिन्न है। परके लक्षसे रागकी मन्दता होकर जो ज्ञान विकसित हुआ उसमें चैतन्यस्वभावका परिणमन नहीं है, परन्तु कषायचक्रका परिणमन है–वह ज्ञान कषायसे पृथक् नहीं हुआ है। परका कुछ करनेकी बुद्धिपूर्वक जो बाह्यकला विकसित होती है, उससे आत्माको कुछ भी लाभ नहीं होता–वह कला आत्माकी नहीं है। आत्माकी चैतन्यकला उसे कहते हैं कि जो ज्ञान आत्माके साथ एकता करके आत्माको केवलज्ञान प्राप्त कराये। परन्तु जो ज्ञान रागके साथ एकता करे वह तो मिथ्याज्ञान है; और वह संसारका कारण है। ज्ञानी-धर्मी किसी जड़ पदार्थको, विकारको या अपूर्ण ज्ञानको अपना स्वरूप नहीं मानते और न उसके आश्रयमें रुकते हैं। ज्ञानी अपने स्वभावका ही आश्रय करते हैं। स्वभावका आश्रय करके जो ज्ञान विकसित हुआ वह ज्ञान आत्माके साथ ही अभेद होता है; उस ज्ञानकी और जीवकी एकता है।

(२३०) धर्मी-अधर्मीका माप करनेकी रीति

प्रश्न :—'आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह परका कुछ नहीं कर सकता'—ऐसा सुनने और समझनेवाले भी व्यापार-धंधा अथवा घरबार छोड़कर त्यागी तो हो नहीं जाते ? जैसा व्यापार-धंधा हम करते हैं वैसा ही यह सुननेवाले भी करते हैं, तब फिर हममें और उनमें क्या अन्तर हुआ ?

उत्तर :—बाह्यदृष्टिसे देखनेवाले अनेक जीवोंको उपरोक्त प्रश्न उठता है, उसका उत्तर समझनेकी मुख्य आवश्यक्ता है। जिन जीवोंको स्वयं सत्य नहीं समझना है और दूसरे जो जीव सत्यको समझ रहे हों वे हमारी अपेक्षा कुछ अच्छा कर रहे हैं–ऐसा मानना है—ऐसे जीव अपने स्वच्छंदकी पुष्टिके लिये बचाव करते हैं कि सत्यको समझनेवाले भी हमारे ही जैसे हैं ! स्वयं अंतरंग भावोंको तो समझते नहीं हैं इससे बाह्य संयोग देखकर उन परसे धर्मका माप निकालते हैं। ऐसे जीवोंको शास्त्रमें बहिरात्मा कहा जाता है; ऐसे बहिरात्माको ही उपरोक्त प्रश्न उठता है। उसका यहाँ समाधान करते हैं—''जैसा व्यापार-धंधा हम करते हैं वैसा ही सत्य सुननेवाले भी करते हैं'—ऐसा प्रश्न किया है; परन्तु भाई ! सबसे पहली मूल बात तो यह है कि–बाह्यमें व्यापार-धंधा आदि कोई भी जड़की क्रियाएँ तो तू भी नहीं करता और दूसरे आत्मा भी नहीं करते। ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी आत्मा जड़की क्रिया तो करता ही नहीं; मात्र अंतरंगभाव करता है और उन अंतरके भावों परसे धर्म-अधर्मका माप हो सकता है। बाह्य संयोगों परसे धर्म-अधर्मका माप नहीं हो सकता। कोई जीव व्यापार–धंधा, घरबार सब कुछ छोड़कर और नग्न जंगलमें रहे तथापि महान अधर्मी होता है और अनंतसंसारमें परिभ्रमण करता है और किसी जीवके बाह्यमें व्यापार-

धंधा या राज-पाटका संयोग हो तथापि अंतरमें आत्मस्वभावका भान है, प्रतीति है, तो वैसा जीव महान धर्मात्मा और एकावतारी अथवा उसी भवमें मुक्ति प्राप्त करनेवाला भी होता है ! इसलिये अंतरंगभावोंको देखना सीखना चाहिये; बाह्यसे धर्मका माप नहीं होता।

बाह्य संयोग समान होने पर भी एक को प्रतिक्षण धर्म और दूसरेको प्रतिक्षण पाप

सत्य सुनने तथा समझनेवाले जीवोंको और सत्य न सुनने-समझनेवाले जीवोंको बाह्यमें व्यापारादि समान हो, तथापि सत्य समझनेवाले जीवको उस समय आत्मस्वभावका भान है, अपने आत्माकी रागसे भिन्न श्रद्धा करता है और बाह्य कार्योंको मैं कर सकता हूँ—ऐसा नहीं मानता, इससे उसके राग-द्वेष अत्यंत अल्प होते हैं और उस समय भी रागसे भिन्न आत्माकी श्रद्धा होनेके कारण उसे धर्म होता है; राग-द्वेषका पाप अत्यन्त अल्प है। और जिसे सत्यकी दरकार नहीं है–ऐसा जीव व्यापारादि जड़की क्रियाको अपना मानता है और उसके कर्तृत्वका अभिमान करता है–इससे उसे अज्ञानका महान पाप प्रतिक्षण बँधता है। इस प्रकार बाह्य संयोग समान होने पर भी अंतरंगमें आकाश-पाताल जितनी महान असमानता है; संयोगदृष्टिसे देखनेवाले जीव उस विभिन्नताको किस प्रकार समझेंगे ?

धर्मी जीवको काहे का त्याग होता है ?

लोगबाग झट बाह्य त्याग करना चाहते हैं, परन्तु पर पदार्थ तो आत्मासे त्रिकाल भिन्न ही हैं। परपदार्थ कहीं आत्मामें प्रविष्ट नहीं हो गये हैं कि आत्मा उनका त्याग करे ? पहले अज्ञानभावसे परद्रव्योंको अपना मानता था और उनका अहंकार करता था; परंतु सच्ची समझ होनेसे ऐसा जाना कि आत्मा सर्व परसे पृथक् है, इससे तीनों लोकके

सर्व पदार्थोंमेंसे अपनेपनकी विपरीत मान्यता छोड़ दी–वही मिथ्यात्वरूप अधर्मका त्याग है; यह त्याग अज्ञानीको दिखाई नहीं देता। बाह्य त्याग या ग्रहण आत्मा नहीं करता; अंतरमें सत्य भावोंका ग्रहण और मिथ्याभावोंका त्याग करे वह धर्म है।

सत्यका स्वीकार और अस्वीकार करनेवाले जीवोंमें महान अन्तर

पुनश्च, सत्यको समझनेकी जिज्ञासावाले जीव सत्यका स्वीकार करके उसका आदर करते हैं, उसकी रुचिपूर्वक समझनेके लिये प्रयत्न करते हैं और उसके लिये निवृत्ति लेकर सत्समागम करते हैं। जब कि दूसरे जीवोंको सत्य समझनेकी दरकार नहीं है, सत्यकी रुचि नहीं है और उलटा सत्यका अनादर करते हैं। देखों ! दोनोंके अंतरंग परिणामोंमें कितना फेर है ! बाह्य संयोग समान होने पर भी एकको सत्यकी जिज्ञासा है और दूसरेको उसकी उपेक्षा है–तो क्या उनमें अन्तर नहीं पड़ा ? एक जीव सत्यका श्रवण-मनन-भावना करनेमें दिनका अमुक भाग निवृत्ति लेता है और दूसरा जीव बिल्कुल निवृत्ति नहीं लेता, तब फिर क्या पहले जीवने उतने रागका त्याग नहीं किया ? श्री पद्मनंदि आचार्यदेव कहते हैं कि चैतन्यस्वरूप आत्माकी बात सुनकर रुचिपूर्वक उसका स्वीकार करनेवाला भविष्यमें मुक्ति प्राप्त करनेवाला है। एक जीव सत्यकी रुचिपूर्वक 'हाँ' कहता है और दूसरा 'ना' कहता है तो दोनोंमें कितना अंतर है ? सत्यको स्वीकार करनेवाला जीव अपनी मान्यतामें तीनोंकालके सत्यका ग्रहण और असत्यका त्याग करता है और अस्वीकार करनेवाला जीव अपनी मान्यतामें तीन कालके असत्यका ग्रहण और सत्यका त्याग करता है—यह अंतरंग ग्रहण–त्याग अज्ञानियोंको दिखाई नहीं देता और बाह्य पदार्थोंके ग्रहण-त्यागका अभिमान करते हैं।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ-३६४२५०

बाह्य संयोगोंमें रहनेवाले धर्मी क्या करते हैं?

श्रीमद् राजचंद्रजी ज्ञानी पुरुष थे, आत्मस्वभावका भान था, तथापि गृहस्थाश्रमी थे; बाह्यमें लाखोंका हीरे-जवाहिरातका व्यापार होता था; परन्तु उस समय उनके आत्मामें परका स्वामित्व किंचित् नहीं था। अंतरमेंसे शरीरादिका स्वामित्व उड़ गया था; अल्पराग था—उसके भी स्वामी नहीं होते थे। रागरहित स्वभावके आश्रयसे उन सबका ज्ञान ही करते थे। बाह्यमें व्यापारादिकी क्रिया बाह्य कारणोंसे होती थी; अपनेको पर्यायकी निर्बलतासे अल्पराग होता था; परन्तु उस समय भी एक क्षणमात्रको चैतन्यके स्वामित्वसे च्युत नहीं होते थे और रागका या परका कर्तृत्व स्वीकार नहीं करते थे। अज्ञानी जीवोंको तो वे बाह्य क्रियाएँ और राग करते हुये दिखाई देते हैं, परन्तु ज्ञानीके अंतरस्वभावकी उन्हें खबर नहीं पड़ती। ज्ञानी तो अपने परिपूर्ण चैतन्यस्वभावके स्वामी हैं, और उस स्वभावके आश्रयसे प्रतिक्षण प्रति पर्यायमें उनके ज्ञानकी विशुद्धता होती रहती है। ज्ञानी ज्ञानस्वभावकी एकताके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं करते।

परका ग्रहण—त्याग किसीके नहीं है

इस जगतमें कौन-सा जीव पैसादि वस्तुओंको प्राप्त कर सकता है? और कौन-सा जीव उन्हें छोड़ सकता है? 'मैंने पैसा कमाया और मैंने पैसेका त्याग किया'—इस प्रकार मूढ़ जीव मात्र अहंकार करता है। अज्ञानी जीव भी परद्रव्योंमें कुछ नहीं करता; हाँ, वह जीव अपने ममत्वको कम या अधिक करता है। परमार्थसे तो ममत्वभावका ग्रहण-त्याग आत्मस्वभावमें नहीं है।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

अज्ञानी बाह्यत्यागी होने पर भी अधर्मी और ज्ञानी गृहस्थ होने पर भी धर्मी

जो जीव परद्रव्यका स्वामी होता है वह अचेतनका स्वामी होता है। अज्ञानी जीव बाह्यमें सब कुछ छोड़कर जंगलमें जाकर रहे–इससे उसके अंतरमेंसे परवस्तुका स्वामित्व हट गया है–ऐसा नहीं समझना चाहिये और ज्ञानीको बाह्यमें लक्ष्मी आदिका संयोग हो इससे उसे परद्रव्यका स्वामित्व है–ऐसा नहीं समझना चाहिये। ज्ञानी जीव गृहस्थाश्रममें होने पर भी वह चैतन्यका ही स्वामी है—इससे वह धर्मी है; और बाह्यत्यागी अज्ञानी जीव परके त्यागका अहंकार करता है–अभिमान करता है कि–मैंने परद्रव्यको छोड़ा है–उस जीवकी मान्यतामें अनन्त परद्रव्योंका स्वामित्व विद्यमान है—इससे वह अधर्मी है।

जिज्ञासु जीवकी पात्रता और अंतरकी अपूर्व धर्मक्रिया

'आत्मा परिपूर्ण ज्ञानस्वरूप है, पुण्य-पापके आश्रयसे आत्माको लाभ नहीं है; पर वस्तुएँ आत्मासे बिल्कुल भिन्न हैं, आत्मा उनका कुछ भी नहीं कर सकता'–इस प्रकार ज्ञानीके पाससे जो सत्य समझनेकी जिज्ञासा करता है उस जीवके रागकी बहुत कुछ मंदता हो गई है। बारम्बार वीतरागस्वभावका श्रवण करनेसे उसका अस्वीकार नहीं करता और रुचिपूर्वक स्वभावको समझनेके लिये समय व्यतीत करता है उस जीवको प्रतिक्षण मोहकी मंदता हो जाती है। दूसरे जीवको सत्स्वभावकी बात ही रुचिकर लगती और उलटी अरुचि होती है उसके मोहकी दृढ़ता होती जाती है। निवृत्तस्वरूप रागरहित आत्मस्वभावकी बातका बारम्बार परिचय करना अच्छा लगता है तो उस जीवको अंतरमें वीतरागता और निवृत्ति रुचिकर प्रतीत हुई अथवा नहीं? और उतने अंशमें रागसे तथा संसारसे उसकी रुचि छूट गई है

या नहीं ? बस, इसमें स्वभावके लक्षसे तीव्र कषाय छूटकर मंदकषाय हो गई वह शुभक्रिया है, उस शुभसे भी आत्मस्वभाव अलग वस्तु है—इस प्रकार बारम्बार रागरहित स्वभावकी भावना करनेसे स्वभावकी ओर ज्ञानकी अंशतः एकाग्रता होती जाती है उतनी ज्ञानक्रिया है; वह राग रहित है और धर्मका कारण होती है। इस प्रकार स्वभावकी रुचिका मंथन करते-करते जैसा परिपूर्ण स्वभाव है वैसा यथार्थ समझ जाये और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान प्रगट करे वह अपूर्व धर्मक्रिया है। वह क्रिया अनंत जन्म-मरणका नाश करनेवाली है। अनादिकालमें कभी भी ऐसी क्रिया एक क्षणमात्र भी जीवने नहीं की है। यदि एक क्षण भी ऐसी सच्ची समझरूपी क्रिया करे तो जीवकी मुक्ति हुये बिना न रहे।

सत्‌की रुचि ही धर्मका कारण है

पैसा किस प्रकार कमाया जाय–ऐसी बात ज्ञानी नहीं करते, परन्तु मात्र सत्‌स्वभावकी वीतरागी बात करते हैं; उसे सुनकर कितने ही जीवोंको उसका बहुमान आता है और अनेक जीव उसे सुनना ही नहीं चाहते तो उन दोनोंमें कितना अन्तर है ? जिसे सत्‌स्वभावकी बात नहीं रुचती वह जीव तो सत् सुननेमें भी नहीं रुकता और न उसमें सत् समझनेकी पात्रता है। जो जीव सत्‌की रुचिपूर्वक बारम्बार श्रवण–मनन करता है वह जीव बाह्यमें भले ही व्यापार–धंधा या घरबारका राग न छोड़ सके, तथापि उसका भाव पहले जीवकी अपेक्षा उत्तम है और उसमें सत्‌को समझनेकी पात्रता है। दोनों जीवोंके बाह्यमें व्यापारादि होने पर भी एक को राग रहित स्वभाव रुचिकर लगता है और दूसरेको व्यापारादि और रागकी ही रुचि है। यह रुचिका फेर है। रुचि ही धर्म और अधर्मका कारण है। स्वभावकी रुचि धर्मका और संयोगकी रुचि अधर्मका कारण है।

जिन जीवोंको सत्य आत्मस्वभावको समझनेकी जिज्ञासा हुई है और उसके लिये बारम्बार सत्समागममें रुकते हैं–ऐसे जीवोंको अपूर्व आत्मधर्म कैसे प्रगट होता है–वह बात यहाँ आचार्यभगवान समझाते हैं। परसे भिन्न चैतन्यस्वभावका निर्णय करनेसे अपनेमें स्वभावकी परिपूर्णता माने वही अपूर्णता और विकारका नाश करनेका उपाय है। अपूर्व दशा जितना या विकार जितना अपने आत्माको न मानकर परिपूर्ण स्वरूपसे स्वीकार करना ही प्रथम अपूर्व धर्म है।

(२३१) हे जीव! शरीरसे भिन्न चैतन्यकी शरण ले!

हे भाई ! जिस शरीर को तू अपना मान रहा है उस शरीर पर भी तेरा अधिकार नहीं चलता; तब फिर जो पदार्थ प्रत्यक्षरूपसे दूर हैं उनमें तेरा कैसे चल सकता है ? तू परका कुछ भी नहीं कर सकता; परपदार्थ तुझसे पृथक् हैं इसलिये उन पदार्थोंके आश्रयसे जो मोहादिभाव होते हैं वे भी तेरे स्वरूपसे भिन्न हैं। इन सबसे भिन्न अपने चैतन्यतत्त्वको तू पहिचान, तो उसके आश्रयसे तुझे धर्म और शांति प्रगट हो। शरीरकी अँगुठी टेढ़ी हो जाय, कांपने लगे, लकवा लग जाय अथवा अन्य कोई भी रोग हो, उस समय उसे मिटानेकी तेरी तीव्र इच्छा होने पर तेरी इच्छानुसार शरीरका कार्य नहीं होता; इसलिये हे भाई ! तू समझ ले ! अंतरमें देख कि तेरा स्वभाव उस शरीर और उसकी ओरकी इच्छासे भिन्न है; इसलिये उनका आश्रय छोड़ और अपने नित्यस्थायी चैतन्यस्वभावका आश्रय कर ! उसीकी शरण ले ! वर्तमान अपूर्णदशामें राग होने पर भी तू अपने ज्ञानमें ऐसा निर्णय और श्रद्धा कर कि वह राग और अपूर्णता मैं नहीं हूँ, मैं तो उस राग और अपूर्णतासे रहित पूर्ण ज्ञानस्वभावरूप हूँ। यदि तू ऐसा निर्णय करेगा तो तुझे अंतरमें रागरहित आत्माको समझनेका अवकाश रहेगा—अर्थात्

राग और शरीरसे भिन्नत्वका भान जागृत रहेगा–जीवनमें शरीरसे भिन्न चैतन्यका भान किया होगा तो शरीर छूटनेके (मृत्युके) प्रसंग पर मूर्च्छित नहीं होगा और शरीरसे भिन्न चैतन्यकी जागृति रहेगी तथा आत्माके आनंदपूर्वक समाधि होगी। अहो ! मैं चैतन्यभगवान हूँ, शरीरसे पृथक् हूँ—ऐसा जिसने भान किया है उसे शरीरसे मुक्त होनेका (जन्म-मरण रहित होनेका) अवसर आयेगा। शरीरमें ही जो एकता मान बैठा है वह तो शरीरमें ही मूर्च्छित हो जायेगा और पुनः पुनः नवीन शरीर धारण करके अनंत जन्म-मरणोंमें भटकेगा। मेरे चैतन्यतत्त्वका शरीरसे सम्बन्ध ही नहीं है—ऐसी श्रद्धा करनेवाला जीव अल्पकालमें अशरीरी–सिद्ध होगा।

चैतन्यजातिको शरीरसे और विकारसे भिन्न जानकर तीनकालके सर्व पदार्थोंसे मैं पृथक् हूँ–ऐसा समझकर अपने ज्ञानको स्वभावमें एकाग्र करके जो आत्माकी श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव करता है उसे अपूर्व धर्म प्रगट होता है। उस जीवके ज्ञानमें स्वभावकी एकताका ग्रहण हुआ और सर्व परपदार्थोंके अभिमानका त्याग हुआ।

(२३२) शरीरमें रोग हो तब आत्माको क्या करना चाहिये ?

प्रश्न :—आत्मा चैतन्यस्वरूप है और शरीरसे भिन्न है—यह बात तो हम मानते हैं, परन्तु जब शरीरमें रोग हो तब हमें उसकी दवा तो करना चाहिये या नहीं ?

उत्तर :—आत्मा शरीरसे भिन्न है और शरीरादि परद्रव्यका कुछ भी नहीं कर सकता–ऐसा वस्तुस्वरूप समझमें आया हो तो उपरोक्त प्रश्न उठनेका अवकाश ही नहीं रहता। 'आत्मा शरीरसे भिन्न नहीं है परन्तु शरीरका कर्ता है'–ऐसी जिसकी अज्ञानबुद्धि है उसीको उपरोक्त प्रश्न उठता है ? 'दवा करना या न करना'–ऐसा प्रश्न उठता है। यदि

दवाकी क्रिया आत्माके आधीन हो तो वह प्रश्न उठता है। जो कार्य करनेके लिये स्वयं समर्थ नहीं है उसके संबंधमें 'मुझे करना या न करना' ऐसा प्रश्न ही नहीं होता। शरीरकी अथवा दवा लानेकी क्रिया आत्मा कर ही नहीं सकता। आत्मा तो स्व-परका ज्ञान करता है और अधिक तो अपनेमें राग-द्वेष-मोहभाव करता है। जिसे शरीर परका राग हो ऐसे जीवको दवा करनेका विकल्प आता है, परन्तु दवा तो यदि आना हो तो स्वयं उसके अपने कारणसे आती है, आत्मा परमें एक अणुमात्र भी फेरफार नहीं कर सकता। यहाँ तो आचार्यदेव यह बात समझाते हैं कि जो रागभाव होते हैं वह करनेका भी आत्माका कार्य नहीं है और अपनेको भूलकर परको जाननेमें रुके–ऐसा ज्ञान भी आत्माका स्वरूप नहीं है। आत्माके स्वभावकी ओर उन्मुख होकर जाने वह ज्ञान आत्माका स्वरूप है। जड़ शरीरकी और दवा करनेकी बात तो दूर रहो, जड़की अवस्थाएँ प्रतिक्षण जैसी होना हों वैसी जड़के स्वभावसे होती ही रहती हैं; अज्ञानी जीव अपने ज्ञातास्वभावको भूलकर उसका अभिमान करता है; ज्ञानी जीव उससे भिन्नत्व जानकर अपने ज्ञानस्वभावकी ओर उन्मुख होता है और राग तथा परका ज्ञाता रहता है।

दवाको, शरीरको, रागको और आत्माको–सबको एकमेक माने उस जीवको ऐसा प्रश्न उठता है कि–'शरीरमें बुखार आये तब मुझे दवा करनी चाहिये या नहीं?' परन्तु भाई ! तू विचार तो कर कि 'तू यानी कौन? और दवा करनेका मतलब क्या?' तू अर्थात् ज्ञान और दवाका अर्थ है अनन्त जड़ रजकण। क्या तेरा ज्ञान उन जड़ रजकणोंकी क्रिया करता है? 'मुझे खरगोशके सींग काटना चाहिये या नहीं?' ऐसा प्रश्न ही कब उठ सकता है? यदि खरगोशके सींग हो तो यह प्रश्न उठे; परंतु खरगोशके सींग ही नहीं हैं तो फिर उन्हें काटने

या न काटनेका प्रश्न ही नहीं उठता। उसी प्रकार यदि आत्मा परवस्तुका कुछ कर सकता हो तो 'मुझे करना चाहिये या नहीं'—ऐसा प्रश्न उठे वह ठीक है। परन्तु आत्मा परका कुछ कर ही नहीं सकता, तब फिर 'मैं परका करूँ' अथवा 'मैं परका न करूँ'—यह दोनों मान्यताएँ मिथ्या हैं।

(२३३) सत्यको समझना वीतरागताका कारण है

'आत्मा ज्ञानस्वरूप है, परका कुछ नहीं कर सकता, जड़की क्रियाएँ अपने आप जैसी होना हों वैसी होती रहती हैं'—ऐसा समझकर अपने ज्ञानस्वभावकी ओर उन्मुख होना और परसे उदासीन होना वह प्रयोजन है। परन्तु स्वच्छन्दका सेवन करके विषय-कषायोंकी पुष्टि की यह बात नहीं है। यह तो ऐसी अपूर्व बात है कि यथार्थ समझे तो वीतरागता हो जाये। प्रथम श्रद्धामें वीतरागता हो और फिर चारित्रमें वीतरागता हो जाये। कोई जीव स्वच्छन्दी होकर विषय-कषायोंकी पुष्टि करे तो वह सत्यको समझनेका फल नहीं है, परन्तु वह जीव सत्यको नहीं समझा है इससे उसकी कुछ नासमझीका ही वह फल है। उसमें सत्यका किंचित् दोष नहीं है। सत्स्वभाव समझे और विषय-कषायोंकी वृद्धि हो—ऐसा कभी नहीं हो सकता; क्योंकि सत्स्वभावकी समझ तो वीतरागताका ही कारण है।

(२३४) चैतन्यसे च्युत होकर जो जड़में सुख मानता है वह बेगारी है

अहो ! जगतके जीव अपने चैतन्यसुखको भूलकर विषय-कषायोंमें सुख मान रहे हैं। विषय-कषायकी रुचिवाले जीव, जिसके पास अधिक लक्ष्मी आदिके संयोग हों उसे अधिक सुखी मानते हैं; उससे 'सेठजी' आदि कहकर अंतरसे उसका बहुमान करते हैं। परन्तु

अपनी जो चैतन्यजाति है–ज्ञानस्वभावकी संपत्ति है उसके संभालनेका जिन्हें अवकाश नहीं है; चैतन्यलक्ष्मीको भूलकर बाह्यमें सुख मान रहे हैं वैसे जीवोंसे ज्ञानीजन 'सेठ' (श्रेष्ठ) नहीं कहते, परन्तु लक्ष्मीके 'बेगारी' कहते हैं। जिसे अपनी श्रेष्ठ चैतन्यलक्ष्मीका भान है वह सेठ (श्रेष्ठ) है परन्तु जो अपने श्रेष्ठताको भूलकर, अपने सुखके लिये लक्ष्मीका आश्रय लेता है वह वास्तवमें बेगार ही करता है, उसका जीवन व्यर्थ ही चला जायेगा, उसे चैतन्यके केवलज्ञानरूपी लक्ष्मीकी प्राप्ति नहीं होगी। शरीर–पैसादिसे तथा पुण्य-पापसे भिन्न और उस ओर ढलनेवाले क्षणिक ज्ञान जितना भी नहीं–ऐसे अपने पूर्ण चैतन्यस्वभावकी श्रद्धा करके उसके अनुभवमें ज्यों-ज्यों ज्ञान स्थिर होता जाता है त्यों-त्यों ज्ञानकी शुद्धता और वीतरागतामें वृद्धि होती जाती है और अन्तमें परिपूर्ण ज्ञान प्रगट होकर आत्मा भगवान हो जाता है, मुक्त हो जाता है; इसलिये चैतन्यस्वभावी आत्माकी पहिचान करना चाहिये।

[९]

उत्तम क्षमा धर्मका दिन

(वीर सं. २४७४ भाद्रपद शुक्ला ५, मंगलवार (चतुर्थीका क्षय)

(२३५) पर्युषण धर्म

सनातन जैनदर्शनके नियमानुसार आजसे पर्युषण पर्वका प्रारम्भ होता है। सच्चा पर्युषण अर्थात् दश लक्षण धर्मका आज प्रथम दिवस है। अनादिसे तीर्थंकरोंके मार्गका जो प्रवाह चल रहा है उसमें आजसे प्रारम्भ करके दस दिन तक पर्युषण पर्व है। आज उत्तमक्षमा धर्मका दिन है–इस प्रकार आजका दिन मांगलिक है; वार भी मंगल है और अधिकार भी मांगलिक है। आत्माका मंगल कैसे होता है, आत्माको धर्म कैसे होता है–उसकी बात चल रही है।

(२३६) धर्मका सम्बन्ध किसके साथ है?

धर्म स्वयं ही मांगलिक है। धर्म आत्माकी निर्दोष पर्याय है, उसका सम्बन्ध आत्माके स्वभावके साथ है। आत्माका सच्चा स्वरूप क्या है वह जाने बिना धर्म नहीं हो सकता। शरीर-मन-वाणी तो जड़ हैं, वे तो आत्मासे पृथक् हैं; और दयादि भावोंके साथ भी आत्माके धर्मका सम्बन्ध नहीं है। दया अथवा हिंसाके भाव स्वयं दोषरूप हैं, इससे आत्माके स्वभावसे वे पृथक् हैं। उन विकारी भावोंसे आत्माका ज्ञान पृथक् है। ज्ञानको परसे भिन्न बतलाकर अब, आत्माके साथ एकरूप बतलाते हैं। यह जाननेसे ज्ञानकी उन्मुखता परकी ओरसे हटकर आत्माकी ओर होती है–वही धर्म है।

(२३७) ज्ञानकी परसे भिन्नता और जीवके साथ एकता

पर द्रव्योंसे तो ज्ञानको बिलकुल पृथक् बतलाया, और कर्मके लक्ष्यसे प्रवृत्ति होनेसे जो पुण्य-पापके भाव होते हैं वह अध्यवसान है, वह अचेतन है; वह अध्यवसान और ज्ञान भिन्न हैं–ऐसा कहकर अंतरके पुण्य-पाप भावोंको भी ज्ञानमेंसे निकाल दिया है। तब फिर ज्ञानका स्वरूप क्या है वह कहते हैं।

अब, ''**जीव ही एक ज्ञान है, क्योंकि जीव चेतन है; इसलिये ज्ञानको और जीवको अव्यतिरेक है, अर्थात् ज्ञानकी और जीवकी एकता** है।'' ज्ञान है वह जीव ही है, परन्तु ज्ञान है वह रागादि नहीं है; इसलिये जीवका आश्रय करके जो ज्ञान होता है वही सच्चा ज्ञान है, परन्तु रागका आश्रय करके जो ज्ञान हो वह अचेतन है–अज्ञान है। जीवका ज्ञानस्वभाव है, जीव चेतनस्वरूप होनेसे वह स्वयं ही ज्ञान है। परको जिलाने या मारनेकी क्रिया तो आत्मा कर ही नहीं सकता; पर जीव अपनी आयुके अनुसार ही जीते-मरते हैं और जो पुण्य-पापरूप भाव होते हैं, वे स्वयं आत्मा नहीं हैं, उनमें आत्माका ज्ञान नहीं है और न उनमें आत्माका कल्याण है।

(२३८) जागृत चैतन्यसत्ता

जीव स्वयं चैतन्य है, जागृत सत्तासे स्व-परका ज्ञाता है। चैतन्यमें सबको जाननेकी सत्ता है, परन्तु बोलने-चालनेकी अथवा परका भला-बुरा करनेकी सत्ता नहीं है। यहाँ किसीको प्रश्न उठे कि जीव दिखलाई क्यों नहीं देता ? उसका उत्तर :–यह बाह्यमें शरीरादि जो कुछ ज्ञात होते हैं वे कहाँ ज्ञात होते हैं ? चैतन्यकी सत्तामें ही ज्ञात होते हैं या उससे बाहर ? जो कुछ ज्ञात होता है वह वास्तवमें आत्माका उस प्रकारका ज्ञान ही ज्ञात होता है। इस जगतमें यदि आत्माका ज्ञान

न हो तो शरीरादि दृश्य पदार्थोंको कौन जानेगा ? मुझे परवस्तु ज्ञात होती है–ऐसा निश्चय करते ही–'मैं ज्ञातास्वरूपी आत्मा हूँ–ऐसा उसमें आ जाता है, परन्तु स्वयं अपने स्वभावको स्वीकार न करके मात्र परका ही स्वीकार करता है; इससे स्वयंको अपना ही स्वभाव ज्ञात नहीं होता–इसका नाम अज्ञान है–अधर्म है–दुःख है। परको जाननेवाला मेरा ज्ञान मेरे आत्माके आधारसे होता है; 'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ'–इस प्रकार ज्ञान और आत्माकी एकता मानकर आत्मस्वभावका आदर करे तो ज्ञान पुण्य-पापकी रुचिसे हटकर स्वभावमें एकता करे–इससे अज्ञान दूर होकर सम्यग्ज्ञान हो–धर्म हो सुख हो। ऐसा सम्यग्ज्ञानको और जीवको किंचित्मात्र भिन्नत्व नहीं है।

(२३९) आत्माके ज्ञानस्वभावका सामर्थ्य

आत्माका ज्ञान शब्दादिसे भिन्न अरूपी है। सम्पूर्ण लोकालोकको एक साथ जाने, तथापि उसमें भार नहीं लगता। वह अरूपी अर्थात् सूक्ष्म है, इससे इन्द्रियोंसे अथवा रागसे ज्ञात हो वैसा नहीं है और ज्ञान अपने स्वरूपमें रहकर सबको जानता है। दूरवर्ती पदार्थको जाननेके लिये ज्ञानको दूर नहीं जाना पड़ता। पचास वर्ष पूर्वकी किसी बातको जाननेके लिये ज्ञानको पचास वर्ष जितना समय नहीं लगता, परन्तु वर्तमानरूप रहकर स्वयं तीनकालको जान लेता है। सबको एक ही साथ जाने वैसा स्वभाव है, परन्तु जाननेमें 'यह अच्छा और यह बुरा'— इसप्रकार राग-द्वेष करके रुकना ज्ञानका स्वरूप नहीं है। जो ज्ञान राग-द्वेषपूर्वक जाने वह वास्तवमें चैतन्यस्वभाव नहीं है। राग-द्वेषको जानते समय भी उससे एकता किये बिना पृथक् रहकर जाने—ऐसा सम्यग्ज्ञानका स्वभाव है। पूर्वके विकारी भावोंको याद करनेसे ज्ञानमें वह विकार नहीं आ जाता। ज्ञानका स्वभाव विकार रहित

है; वह विकारको जाननेवाला है, परन्तु स्वयं विकार रहित है। ज्ञान स्वयं विकार रहित होनेसे विकारके द्वारा ज्ञानस्वरूप ज्ञात नहीं होता, अरूपी होनेसे किन्हीं इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञात नहीं होता; परन्तु इन्द्रियोंके अवलम्बन रहित और विकारसे भी भिन्न ऐसे ज्ञान द्वारा ही आत्मस्वरूप ज्ञात होता है। जितने अंशमें ज्ञान आत्मामें स्थित हुआ है उतने ही अंशमें वह विकार रहित और अतीन्द्रिय हुआ है।

पुण्य-पाप हों उन्हें ज्ञान व्यवहारसे जानता है, क्योंकि पर सन्मुख-पुण्य-पाप सन्मुख होकर ज्ञान नहीं जानता है, परन्तु अपने स्वभाव सन्मुख होकर ज्ञानस्वभावको जाननेसे उसमें परवस्तुएँ ज्ञात हो जाती हैं। इसलिये परमार्थसे तो ज्ञान अपने स्वभावको ही जानता है; परको जानता है वह व्यवहार है।

(२४०) ज्ञान और आत्माकी एकताके विश्वासमें आनेवाले उत्तम क्षमादि धर्म

जीव चेतन है, जीवको और ज्ञानको किंचित् पृथक्त्व नहीं है। इस प्रकार अपना ज्ञातास्वभाव निश्चित करके स्वभावोन्मुख होता हुआ ज्ञान आत्माके साथ अभेद है। इसप्रकार ज्ञानको आत्मोन्मुख करके निर्णय करनेवालेने पूर्ण आत्मस्वभावको श्रद्धामें लिया है और अपने आत्माको मिथ्यात्वभावरूप अधर्मसे बचा लिया है–इससे सम्यक्त्वरूपी धर्म हुआ। पहले आत्माको विकारी मानकर पूर्णस्वभावकी हिंसा करता था; अब, जो शुद्ध ज्ञानस्वभाव है वह मैं हूँ और विकारका एक अंश भी मैं नहीं हूँ—ऐसी प्रतीतिसे अपने शुद्धस्वभावको विकारसे बचा लिया इसका नाम परमार्थ अहिंसा है। विकारकी रुचि थी उस समय आत्माकी अरुचि थी; अब ज्ञान और आत्माकी एकताकी रुचि होनेसे विकारकी रुचि दूर हुई–इससे

स्वभावकी अरुचिरूप अनन्तानुबन्धी क्रोध दूर होकर उत्तम क्षमा धर्म प्रगट हुआ। पहले तो जो पुण्य-पाप होते थे, उन्हीं को आत्मा मान लेता था; इससे उन पुण्य-पापसे पृथक् आत्माकी खबर नहीं थी। पुण्य-पापसे भिन्न आत्मस्वभावका भान होते ही तुरन्त सारे पुण्य-पाप दूर नहीं हो जाते, परन्तु पुण्य-पाप होने पर भी वह मैं नहीं हूँ, मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ–इस प्रकार पुण्य-पापसे पृथक्त्वकी और ज्ञानके साथ एकत्वकी प्रतीति स्थिर रखता है; इस प्रतीतिके बलसे प्रति समय शुद्धतामें वृद्धि होती जाती है। आत्माको पुण्य-पापवाला माननेरूप मिथ्या मान्यतामें आत्माकी हिंसा थी; उस मिथ्या मान्यतासे आत्माको छुड़ा लिया उसका नाम आत्मदया है। आत्मा परको तो बचा या मार नहीं सकता। इस शरीरका भी स्वयं कुछ नहीं कर सकता। जीनेकी इच्छा होने पर भी शरीरको नहीं रख सकता है? आत्माका परसे तो परिपूर्ण पृथक्त्व है और अपने ज्ञानके साथ परिपूर्ण एकता है, बिलकुल भिन्नता नहीं है। इस सम्बन्धमें किंचित् शंका नहीं करना चाहिये–ऐसा आचार्यदेव कहते हैं।

* ज्ञानस्वभावमें निःशंक होनेका उपदेश *

पुनश्च, "ज्ञानका जीवके साथ व्यतिरेक किंचित् भी शंकनीय नहीं है, अर्थात् ज्ञानकी जीवसे भिन्नता होगी!–ऐसा बिलकुल शंका करने योग्य नहीं है, क्योंकि जीव स्वयं ही ज्ञान है।" सम्यग्दृष्टिको निःशंकता होती है; यहाँ सम्यग्दर्शनके निःशंकित अंगकी बात रखी है।

(२४१) स्वभावकी निःशंकतामें आनेवाले अहिंसा और सत्य धर्म

ज्ञान है वह आत्मा ही है–ऐसा निःशंक मानने योग्य है, उसमें किंचित् शंका करने योग्य नहीं है। ज्ञानकी वर्तमान दशा आत्मामें अभेद होकर पूर्ण द्रव्य ज्ञात हो वह आत्मा है। ऐसे आत्माको निःशंक मानना

वह अहिंसा है और परमें या पुण्य-पापमें आत्माको मानना वह हिंसा है। ज्ञान है वह आत्मा है–ऐसा कहनेसे उसमें भेदकी बिलकुल शंका नहीं करना चाहिये। जाननेवाला ज्ञान आत्मासे किंचित् भी भिन्न होगा–ऐसी शंका नहीं करना चाहिये। किसी परके कारण ज्ञान होता होगा–ऐसा नहीं मानना चाहिये। रागादिभावोंमें ज्ञान होगा–ऐसी शंका बिलकुल नहीं करना चाहिये। ज्ञान और आत्मा एक ही हैं–ऐसी निःशंक श्रद्धा करना चाहिये;—ऐसी श्रद्धा है वह धर्म है। ऐसी श्रद्धा करनेवालेने जैसा है वैसा स्वरूप माना है—इससे यह सत्यवादी हुआ है।

(२४२) स्वभावकी निःशंकतामें आनेवाला अचौर्य धर्म

'क्या आत्मा मात्र जाननेका ही कार्य करता है ? या परका कुछ करता होगा ! या राग भी करता होगा !' ऐसी बिलकुल शंका नहीं करना चाहिये। आत्मा चैतन्यस्वभाव ही है–ऐसा निःशंक मानकर आत्माको स्वभावमें स्थिर करना और परद्रव्यको अपनेमें स्वीकार न करना वह अचौर्यधर्म है। परद्रव्य अपना नहीं है, फिर भी उसे अपना मानना वह चोरी है, ज्ञान परसे बिलकुल भिन्न है और आत्मासे बिलकुल भिन्न नहीं है–ऐसा माननेवालेने अपने आत्माको चोरीके भावोंसे बचाया है। ऐसे आत्मस्वरूपकी श्रद्धामें धर्म है; बाह्यमें मंदिर, शास्त्रादिमें कहीं धर्म नहीं है। जड़ वस्तुको अथवा विकारी भावोंको अपना स्वरूप मानना वह मिथ्या मान्यता है, उसमें त्रिकालके पदार्थोंकी चोरी है।

परायी वस्तुको ग्रहण करे उसको चोर कहते हैं। परवस्तु अपनी नहीं है तथापि उसे अपना माने वह जीव चोर है। जैसे नदीमें पानी बहता जा रहा हो, वहाँ कोई ऐसा माने कि–'यह पानी मेरा है'–तो वह असत्यरूप है। उसी प्रकार इस जगतमें समस्त वस्तुएँ अपने

परिणमन–प्रवाहमें परिणमित होती रहती हैं और पुण्य-पाप भाव भी होकर दूसरे ही क्षण मिट जाते हैं। उन पर वस्तुओंको या क्षणिक भावोंको जो आत्मा अपना स्वरूप मानता है वह आत्माका हिंसक, असत्यका सेवक और चोर है। पैसेको अपना मनवाये अथवा पैसा खर्च करनेके भावको धर्म मनवाये वह भी चोर है, आत्माका हिंसक है।

परका कुछ करनेका या विकार करनेका ज्ञानका स्वभाव नहीं है। ज्ञान है वह जीवतत्त्व है और क्षणिक विकार है वह आस्रवतत्त्व है। उन दोनोंको जो एकमेक माननेवाला जीव अपने स्वभावकी और देव-शास्त्र-गुरुकी भी परमार्थसे आशातना करनेवाला है, उसे मिथ्यात्वका महान पाप है।

(२४३) स्वभावकी निःशंकतामें आनेवाला ब्रह्मचर्य धर्म

रागादिकसे भिन्नत्व जानकर आत्मा और ज्ञानकी एकता माननेवाला सम्यग्दृष्टि गृहस्थ हो, तथापि वह जीव श्रद्धाकी अपेक्षा ब्रह्मचारी है। पहले पर संयोग और विकारके साथ आत्माकी एकता मानकर उसमें युक्त होता था वह मैथुन-सेवन था। अब, ज्ञान और आत्मामें एकत्वकी श्रद्धा करके विकार और संयोगोंसे पृथक्त्व जाना– इससे उसने आत्माके साथ एकता करके परके साथकी एकतारूप युक्तताको तोड़ दिया–वह परमार्थसे ब्रहचारी है।

(२४४) स्वभावकी निःशंकतामें आनेवाला अपरिग्रह धर्म

मैं ज्ञानमात्र हूँ; इसके अतिरिक्त परका एक अंश भी मेरा नहीं है–ऐसा माननेवाले जीव वास्तवमें अपरिग्रही हैं। उन्हें बाह्यमें चक्रवर्ती राज्यका संयोग होने पर भी अन्तरके अभिप्रायमें एक अंशको भी अपना नहीं मानते, ज्ञानस्वभावके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं अंशमात्र भी एकता नहीं मानते, इससे ज्ञानी उन्हें निष्परिग्रही कहते हैं। और जिसने

आत्मस्वभावमें एकता प्रकट नहीं की है तथा बाह्य पदार्थोंमें अंशमात्र भी एकता है वह जीव बाह्यमें त्यागी हो तथापि अनंत परिग्रही है।

(२४५) उत्तमक्षमा धर्म

उत्तम क्षमादि दस धर्म अनादिकालीन हैं। उनमेंसे आज उत्तमक्षमा धर्मका दिन है। मैं त्रिकाल अशरीरी, निर्विकारी तत्त्व हूँ, ज्ञानके साथ अभेद हूँ–ऐसी रुचि और प्रतीति करना वह महान क्षमा है। कोई आकर गालियाँ दे अथवा मारे उस समय क्रोध न करना– वह तो शुभराग है; ऐसी क्षमाकी यहाँ बात नहीं है। आत्माको विकारयुक्त और शरीरयुक्त माने–उसने आत्माके साथ स्वभाव पर अनंत क्रोध किया है, और जो आत्माको ज्ञानस्वभावसे परिपूर्ण माने उसने अपने आत्मा पर उत्तम क्षमा की है?

(२४६) निःशंकताका फल केवलज्ञान और शंकाका फल अनंत संसार

जिसने आत्मा और ज्ञानमें किंचित् भी भिन्नत्व माना, वह जीव ज्ञानसे अलगका अलग रहेगा अर्थात् विकारमें एकता करके, वह अनंत संसारमें परिभ्रमण करेगा; वह अपने ज्ञानको आत्मामें अभेद नहीं करेगा। और जिसने आत्मा और ज्ञानकी सम्पूर्ण एकता मानी है; वह जीव पर्याय पर्यायमें आत्मामें ज्ञानकी एकता करता है और विकारसे अलग ही रहता है। वह जीव अल्पकालमें ही ज्ञान और आत्माकी सम्पूर्ण एकता प्रगट करके, केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्त होगा।

आत्मा और ज्ञानमें किंचित् भेद नहीं है–ऐसी निःशंक दृष्टि हुई है, वह जीव किसी भी प्रसंग पर आत्माको ज्ञानसे भिन्न नहीं मानता। इससे कभी भी आत्मस्वभावका आश्रय नहीं छोड़ता और विकारके

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ-३६४२५०

साथ ज्ञानकी एकता कभी नहीं मानता, वह किसी भी समय आत्माको विकारवाला नहीं मानता; इससे उस जीवका ज्ञान प्रतिक्षण आत्मस्वभावके साथ एकमेक होता जाता है और विकारसे छूटता जाता है–इससे उसे प्रति समय ज्ञान और वीतरागताकी वृद्धि होती जाती है;—इसका नाम साधकदशा है। अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि वाणीके कारण ज्ञान होता है;–इससे उन्होंने आत्माके साथ ज्ञानकी एकता नहीं मानी; ज्ञानको आत्माके साथ एकमेक नहीं किया, किन्तु परद्रव्यके साथ एकता मानकर विकारके साथ ज्ञानको जोड़ दिया, वह जीव आत्माके ज्ञानस्वभावकी हत्या करनेवाला आत्मघाती है। उसने ज्ञानको आत्मासे पृथक् माना है–इससे उसके आत्माको ज्ञानसे अत्यंत वियोग (एकेन्द्रिय दशा) हो जायेगी। ज्ञानकी और आत्माकी ही एकता है, इससे ज्ञान आत्माके आश्रयसे ही स्वपरका ज्ञाता है, रागादिका कर्ता नहीं है–इसमें जो जीव बिलकुल शंका नहीं करता, उसके ज्ञानको आत्मासे बिलकुल भिन्नता नहीं रहेगी और विकारका किंचित् भी सम्बन्ध नहीं रहेगा–अर्थात् उसका ज्ञान आत्माके आश्रयसे ही परिपूर्णतया परिणमित होकर केवलज्ञान प्रगट होगा और विकारका सर्वथा अभाव हो जायेगा।

आचार्य भगवान कहते हैं कि आत्मा और ज्ञानमें पृथक्त्व होगा ऐसी शंका किंचित्मात्र नहीं करना चाहिये। ऐसी आत्मस्वभावकी निःशंकता मोक्षका मार्ग है। बस, जानना ही आत्मा है, अर्थात् अंतरस्वभावोन्मुख होकर स्वमें अभेद हुआ वह ज्ञान ही आत्मा है–ऐसी निःशंक श्रद्धा हुई, वहीं ज्ञान विकारसे अलग होकर स्वोन्मुख हुआ–भेदज्ञान हुआ–इससे अब पर्याय पर्यायमें ज्ञान और आत्माकी अभेदता बढ़ते बढ़ते और राग दूर होते होते वीतरागता और केवलज्ञान हो जायेगा।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

आत्मा परका कुछ करता है, अथवा पर वस्तु आत्माका कुछ करती है, ऐसा मानना वह अज्ञान है अधर्म है। उसी प्रकार जैसे संयोग आयें, वैसा ही ज्ञान होता है–अर्थात् संयोगोंके आधारसे ज्ञान होता है–ऐसा जो मानता है, उसने वास्तवमें आत्मा और ज्ञानको एक नहीं माना है, परन्तु पृथक् माना है और पर संयोगोंमें ज्ञानकी एकता मानी है; उस जीवका ज्ञान चेतनस्वभावकी एकता रहित होनेसे और संयोगोंके साथ एकताका अभिप्रायवाला होनेसे वास्तवमें अचेतन है।

ज्ञानकी जिस अवस्थाने संयोगमें–रागमें एकता की है, वह आत्मा नहीं है; क्योंकि उस अवस्थाने आत्मासे भिन्नत्व माना है–इससे वह अवस्था आत्मस्वभावमें एकता करके स्थिर नहीं होगी और आत्मानुभवके आनंदको नहीं भोग सकेगी; परन्तु वह अवस्था अपने ज्ञानको आत्माके बाहर फिरा रही है, इससे बाह्यके लक्ष्यसे मात्र आकुलताका ही उपभोग करेगी।

(२४७) स्वभावकी निःशंकता ही कर्तव्य है

प्रश्न : इसमें क्या करना कहा जाता है–वह संक्षेपमें समझाइये ?

उत्तर :–आत्मा ज्ञानस्वरूपी है और पुण्य-पाप आत्माका स्वरूप नहीं है,–ऐसी निःशंक श्रद्धा करके ज्ञानस्वभावके साथ वर्तमान पर्यायकी एकता करना और पुण्य-पापसे भेदज्ञान करना–यही करना है। जिसने ज्ञान और आत्माके पृथक्त्वकी किंचित्मात्र शंका नहीं की, अर्थात् ज्ञानका परके या विकारके साथ किंचित् भी सम्बन्ध नहीं माना, वह जीव अपने ज्ञानस्वभावमें निःशंक हुआ–निडर हुआ–धर्मी हुआ। ऐसे अपने आत्माकी निःशंक श्रद्धा करना ही धर्मका मूल है। पहले वह जीव अपनेको संयोगाधीन मानता था, अब स्वभावाधीन हुआ।

अब चाहे जैसे अनुकूल या प्रतिकूल संयोग आएँ–उनसे भिन्नता जानकर, स्वभावमें निःशंक और निर्भय रहकर प्रतिक्षण आत्मशांतिकी वृद्धिपूर्वक समाधिमरण करके एकावतारी हो जाय–उसके उपायका यह कथन है।

(२४८) निःशंकता मुक्तिका उपाय है

त्रिलोकपूज्य श्री तीर्थंकरदेव और आत्मानुभवमें झूलते हुये संत-मुनिवर पुकार करते हैं कि–हे भव्य ! तेरे ज्ञानको तेरे स्वभावसे किंचित् भिन्नत्व नहीं है और तेरे ज्ञानकी हमारे साथ किंचित् एकता नहीं है। तू हमसे अलग है, हमारा तुझे बिलकुल आश्रय नहीं है; अपने ज्ञानस्वभावके साथ ही तुझे एकता है, अपने आत्मस्वभावसे तू ज्ञानको किंचित् भी अलग मानेगा तो नहीं चलेगा; ज्ञान और आत्माकी सर्व प्रकारसे एकता मानकर, रागसे पृथक् होकर स्वभावमें ही ज्ञानकी युक्तता कर, इसमें किंचित्मात्र भी शंका न कर–यही मुक्तिका उपाय है। जो इसमें थोड़ी सी भी शंका करे उसकी मुक्ति नहीं होती।

जीव स्वभावमें ज्ञानकी खान भरी हुई है, जीव स्वयं पूर्ण ज्ञानमय है। वह कहीं परलक्ष्यमें रुके बिना और राग-द्वेषका विकल्प भी किये बिना सबको जाने वैसे सामर्थ्यवाला है। इसलिये हे जीव ! तू संयोगको, संयोगके लक्ष्यसे होनेवाले ज्ञानको अथवा विकारको अपना स्वरूप न मान। परन्तु विकारके समय भी तू उन सबका लक्ष्य छोड़कर अन्तरोन्मुख होकर अपने पूर्ण ज्ञानस्वभावकी श्रद्धा कर ! पूर्ण ज्ञानस्वभावकी श्रद्धा ही सम्यक्त्व है। ऐसी श्रद्धा प्रकट करके जिसने अपने ज्ञानको आत्मस्वभावमें एकतारूप परिणमित किया है, उसे सदैव धर्म होता रहता है–प्रति समय शुद्धता बढ़ती जाती है और बंधनसे मुक्ति होती जाती है।

(२४९) 'आहारका त्याग करना धर्म है'—यह मान्यता अज्ञान है

अधिकांश लोग आहारत्यागको धर्म मान बैठे हैं; परन्तु वह मात्र अज्ञान ही है। शरीरको आहारका संयोग नहीं हुआ, वह जड़की स्वतंत्र क्रिया है, उसके साथ आत्माके धर्मका सम्बन्ध नहीं है। आहारका राग कम करे तो वह पुण्य है, परन्तु यदि उसे धर्म माने अथवा यह माने कि मैंने आहारको छोड़ा है तो मिथ्यात्वका अनंत पाप उसी समय बंधता है। वह मिथ्यात्वरूपी पाप कैसे टले और जीवको धर्म कैसे हो–उसकी यहाँ बात है। मैं आहारका कर्ता नहीं हूँ, इच्छा होती है; उसके साथ ज्ञानकी एकता नहीं है, इच्छासे और आहारसे पृथक् तथा ज्ञान-आनंदसे अभेदरूप आत्मस्वभाव मैं हूँ–ऐसी शुद्ध आत्माकी श्रद्धा करनेसे सम्यक्दर्शन प्रगट होता है और मिथ्यात्वका अनंत पाप दूर हो जाता है–यही अनंतकालमें एक क्षणमात्र भी नहीं किया–ऐसा अपूर्व धर्म है। इसके अतिरिक्त आहारादिका राग छोड़कर पुण्य तो जीवने अनंतबार बाँधा है, उसके फलमें अनंतबार महान सम्राट हुआ, और पाप करके उसके फलमें अनंतबार भिखारी भी हुआ है। अनंतबार स्वर्गके भव धारण किये और अनंतबार नरकके; परन्तु उन पुण्य-पाप और उनके फलसे भिन्न अपना आत्मस्वभाव है, उसे कभी नहीं समझा, इसीसे संसारका भ्रमण दूर नहीं हुआ। अब वह संसार-परिभ्रमण कैसे दूर हो और मुक्तदशा कैसे प्रगटे–उसका उपाय बहुत ही सरल रीतिसे यहाँ समझाकर संतोंने महान उपकार किया है।

(२५०) धर्मी जीवकी निःशंकता

जिसने ज्ञान और आत्माकी एकता मानी है, उस जीवको राग हो उस समय भी–'मैं ज्ञानसे पृथक् हो जाता हूँ, अथवा तो मेरा ज्ञान आत्मासे पृथक् होकर रागरूप हो जाता है'–ऐसी शंका बिलकुल नहीं

होती। बस, ऐसी सम्यक्श्रद्धाके बलसे त्रिकाली चैतन्यस्वभावको दृष्टिमें लेकर उसमें एकता की और रागके साथकी एकताको तोड़ दिया ऐसे जीवको सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित उत्तम क्षमादि दसों धर्म अंशतः आ जाते हैं।

(२५१) धर्मी जीव कहाँ आरूढ़ होता है?

जिस प्रकार पहाड़के ऊपर चढ़नेवालेका लक्ष्य नीचे तलहटी पर नहीं होता, परन्तु ऊपर शिखर पर होता है, उसी प्रकार आत्माकी मुक्तदशा प्रगट करना हो वह जीव नीचे नहीं देखे, अर्थात् रागादिको या क्षणिक अवस्थाको ही अपना स्वरूप नहीं समझे, किन्तु ऊपर देखे अर्थात् सदैव परिपूर्ण नित्य चैतन्यस्वभावको समझकर उसकी श्रद्धा करे और क्षणिक पर्यायमें रागमें एकता मानकर उसमें आरूढ़ न हो, परन्तु त्रिकाली चैतन्यस्वभावमें आरूढ़ हो, तो उसकी परिणति ऊपर ऊपर चढ़ती जाती है अर्थात् शुद्ध होती जाती है और वह मुक्ति प्राप्त करता है। धर्म करना हो उसे अपने आत्माको त्रिकाली चैतन्य भगवानस्वरूप स्वीकार करके उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके, उसीमें आरूढ़ होना चाहिये। जो जीव पुण्य-पापको ज्ञानके साथ एकमेक माने, पुण्यसे धर्म माने अथवा तो पुण्य अच्छा है, वह अपना कर्तव्य है–ऐसा माने वह जीव विकारमें ही आरूढ़ हुआ है, वह स्वभावमें आरूढ़ नहीं होता इससे नीचे नीचे गिरता जाता है।

(२५२) चैतन्यभगवानके दर्शन

जिसने ज्ञानको विकारका कर्ता माना है उस जीवने आत्मा और ज्ञानके बीच भेदरूप परदा रखा है। जिस प्रकार जिनप्रतिमा पर आड़ा परदा डालकर देखे तो उसका रूप स्पष्ट दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार इस आत्माका स्वभाव चैतन्यमय जिनबिम्ब है; परन्तु 'विकार मेरा

स्वरूप है'—ऐसी मिथ्या मान्यतारूपी परदा आड़ा डालकर देखनेवालेको यह दिखाई नहीं देता कि स्वयं चैतन्यभगवान है, परन्तु विकारी ही भासित होता है। वह जीव ज्ञान और आत्माके बीच मिथ्यात्वरूपी परदा रखता है, इससे उसे चैतन्यभगवानके दर्शन नहीं होते। वह परदा दूर करके सच्ची मान्यतासे देखे तो अपना ही आत्मा भगवान है वह ज्ञात होता है।

(२५३) जीवनका कर्तव्य

अहो ! धर्मात्मा जीवको जीवनमें यदि कुछ करना हो तो आत्मा और ज्ञानकी सम्पूर्ण एकता ही करना चाहिये, वही करना है। प्रथम रागसे भिन्नता और ज्ञानके साथ आत्माकी एकता की श्रद्धा करना चाहिये और फिर ज्ञानको स्वरूपमें स्थिर करके वीतरागभाव प्रगट करके सम्पूर्ण एकता करना चाहिये–इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी करने योग्य नहीं है। इसीमें मोक्षमार्ग अथवा धर्म, जो कहो वह आ जाता है। किसी भी परके कारण ज्ञान विकसित होता है–ऐसा जिसने माना है उसने रागके साथ ही ज्ञानकी एकता की है–ऐसा अज्ञानी जीव प्रत्येक संयोगके समय ज्ञान और आत्माकी एकताको तोड़ता है, वह अधर्म है। ज्ञान और आत्माकी एकता की तथा रागादिसे भिन्नता की श्रद्धासे ज्ञानी जीवको चाहे जैसे प्रसंगके समय भी प्रति समय स्वभावमें ज्ञानकी एकता बढ़ती जाती है और राग टूटता जाता है-वह धर्म है।

(२५४) गृहस्थपनेमें धर्मीको स्वभावकी निःशंकता

भरत चक्रवर्ती, पाँच पांडव, रामचन्द्रजी, श्रेणिक राजा, सीताजी इत्यादिको गृहस्थपनेमें भी ऐसे ज्ञानस्वभावका बराबर भान था और इससे उन्हें प्रतिसमय आत्मस्वभावमें ज्ञानकी अभेदता बढ़ती जाती थी और विकारमें अटकना दूर होता जाता था; गृहस्थपनेमें राग होता था

तथापि उन्हें आत्माकी रागके साथ एकता हो जाती होगी !'—ऐसी बिलकुल शंका नहीं होती थी। श्रेणिक राजा इस समय नरकके संयोगमें हैं, तथापि उनके ऐसी ही दशा है। सभी सम्यग्दृष्टिओंको ऐसी ही श्रद्धा होती है, उसमें उन्हें किंचित् शंका नहीं होती, जिसे ज्ञान और आत्माकी एकतामें शंका है वह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि उसे राग और संयोगोंके साथ एकताकी मान्यता बनी हुई है।

(२५५) परमें एकता वह अधर्म; स्वमें एकता वह धर्म

बाह्यमें शरीरादि जड़की क्रियासे अथवा अंतरके पुण्य परिणामसे जो धर्म मानता है वह जीव अपने ज्ञानकी जड़के साथ और विकारके साथ एकता मानकर अधर्मका ही सेवन कर रहा है; और जिसने आत्मस्वभावमें ज्ञानकी एकता की है उसने विकारसे और जड़से अपने ज्ञानके पृथक् किया है, वह जीव प्रतिक्षण अनंतानंत कालमें कभी न किया हुआ–ऐसे अपूर्व धर्म कर रहा है। स्वभावमें एकता करके रागरहित हुआ उसका ज्ञान स्वयं ही धर्म है; वही सम्यक्त्व, ज्ञान और संयम है। उसका नाम सर्वविशुद्ध ज्ञान है।

(२५६) आत्माके साथ शत्रुता कैसे दूर होती है?

आचार्य भगवान कहते हैं कि हे जीव ! तू परमें मत देख ! परसे गुण प्रगट होंगे ऐसा मानकर अपने आत्माका अनादर न कर ! तेरा आत्मा ही अनंत गुणका भंडार है, उसमें अपने ज्ञानकी एकता करके, उसके साथ जो अनंतकालसे शत्रुता चली आ रही है उसे छोड़ दे ! वही सच्ची क्षमा है। जिसने आत्मा और ज्ञानका पृथक्त्व मानकर विकारके साथ किंचित् भी एकत्व माना है अर्थात् संयोगोंसे ज्ञान होना माना है उसने संयोग और विकारके साथ भाईबंधी (एकत्वबुद्धि) की है, और अपने आत्माके साथ बैर बांधा है; विकारका आदर और स्वभावका

अनादर करके उस पर अनन्त क्रोध किया है, अपने आत्माका महान अपराध किया है। यह अनन्तकालीन महान अपराध और क्रोध दूर होकर सच्ची क्षमा कैसे प्रगट हो उसका उपाय यहाँ कहा है।

(२५७) मोक्ष और निगोद

अज्ञानी जीव पैसा खर्च करनेसे पुण्य और धर्म मनवाते हैं, और उसके फलमें स्वर्ग-मोक्ष मिलेगा–ऐसा कहते हैं; परन्तु ज्ञानी तो कहते हैं कि पैसा खर्च करनेके कारण तो पुण्य-पाप अथवा धर्म कुछ भी नहीं होता, क्योंकि वह तो जड़ है, आत्मा उसका कर्ता नहीं है। परन्तु 'मैं परका कर्ता हूँ, और मैंने पैसा खर्च किया है'—ऐसा मानकर और पुण्यसे धर्म मानकर मिथ्यात्वकी पुष्टि करके वह महापापी जीव निगोदमें जायेगा। देखो अज्ञानी पैसा खर्च करनेसे मोक्ष मना रहे हैं ! ज्ञानी कहते हैं कि, पैसेकी क्रियाका कर्ता मैं हूँ–ऐसा माननेवाला जीव मिथ्यात्वके कारण निगोदमें जायेगा। ज्ञानी और अज्ञानीकी मान्यतामें ऐसा विरोध है। इस मान्यताके साथ धर्म-अधर्मका सम्बन्ध है।

पुण्यसे या जड़की क्रियासे आत्माका धर्म मानेगा वह जीव मिथ्यात्वके कारण निगोदमें जायेगा ऐसा कहा, वह कहीं डरानेके लिये नहीं कहा है, परन्तु यथार्थ स्वरूप समझाया है। जिसने आत्माके ज्ञानको स्वभावसे छुड़ाकर संयोगोंके साथ जोड़ा है उसके ज्ञानका परिणमन अनंता हीन हो जायेगा–उसीका नाम निगोद दशा है; उसकी ज्ञानशक्ति अत्यंत नष्ट हो गई इससे बाह्य निमित्तरूप भी मात्र एक स्पर्शेन्द्रियके अतिरिक्त दूसरी कोई इन्द्रियाँ नहीं होती।

(२५८) ज्ञानस्वभावकी आराधना और विराधनाका फल

'मैं ज्ञाता साक्षीस्वरूप नहीं, किन्तु परका और विकारका कर्ता हूँ–इस प्रकार जिसने परका कर्तृत्व माना है और अपना ज्ञातास्वभाव

नहीं माना–उस जीवकी मिथ्या मान्यतामें ऐसा आ जाता है कि मेरा ज्ञातास्वभाव ढँक जाये और मुझमें विकारका तथा परके कर्तृत्वके भावका विकास हो ! इस मिथ्या मान्यताके कारण उस जीवका ज्ञान अंतिममें अंतिम सीमा तक ढँक जायेगा और वह एकेन्द्रिय होगा। अपने ज्ञानस्वभावकी विराधनाका यही फल है और जिसने अपने ज्ञाता साक्षीस्वरूपको स्वीकार करके विकारकी और परके कर्तृत्वकी बुद्धिको उड़ा दिया है वह जीव प्रति समय अपने ज्ञातृत्वको बढ़ाता-बढ़ाता और रागादि भावोंको दूर करता हुआ अल्पकालमें केवलज्ञान प्राप्त करता है और साक्षात्रूपसे सम्पूर्ण ज्ञाता हो जाता है। अपने ज्ञानस्वभावकी आराधनाका यह फल है।

(२५९) ज्ञानका कार्य

कहीं आग लगी हो तो उसे आँख जानती है, लेकिन क्या करे ? क्या वह पदार्थोंमें फेरफार कर सकती है ? जिस प्रकार आँख पदार्थोंको जानती है लेकिन उनमें फेरफार नहीं कर सकती; उसी प्रकार आत्माका ज्ञानस्वभाव है; आत्मा सबको जानता है लेकिन पर में वह क्या करे ? परको जाननेमें राग-द्वेष करना भी ज्ञानका कार्य नहीं है। ऐसे ज्ञानस्वरूपकी जिसे श्रद्धा है वह धर्मात्मा संयोग और रागादिका ज्ञाता ही है। पांडव आदि धर्मात्मा थे; जिस समय कुरुक्षेत्रका युद्ध हुआ उस समय अज्ञानियोंको तो बाह्य दृष्टिसे ऐसा ही दिखाई देता है कि यह पांडव युद्ध और द्वेषके कर्ता हैं; परन्तु वास्तवमें तो उस समय भी वे धर्मात्मा स्वभावकी एकतासे च्युत होकर कहीं बाह्यमें नहीं गये थे, संयोगकी क्रियामें या रागमें उनका आत्मा नहीं था; किन्तु उनका आत्मा तो ज्ञानस्वभावकी एकताकी श्रद्धा करके प्रति समय उसीमें एकताकी वृद्धि ही करता था;–इसका नाम धर्म है।

(२६०) 'ज्ञान और आत्माकी एकता'का क्या अर्थ?

यहाँ, ज्ञान और आत्माकी एकता करना चाहिये–ऐसा बारम्बार कहा जाता है; ज्ञान और आत्माकी एकता करनेका अर्थ क्या? 'ज्ञान अलग वस्तु है और आत्मा अलग वस्तु है,–उन दोनोंको इकट्ठा करना है'–ऐसा नहीं समझना चाहिये। ज्ञान और आत्मा कहीं दो पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं। आत्मा स्वयं ही अनादिसे स्वयंसिद्ध ज्ञानस्वरूप है; परन्तु जिसे उस स्वरूपकी खबर नहीं है वह जीव रागको अपना स्वरूप मानकर रागरूप ही स्वयं परिणमित होता है, इससे उसका आत्मा ज्ञानस्वरूपसे परिणमित नहीं हुआ, उसका नाम ज्ञान और आत्माकी भिन्नता है। और अपने आत्मस्वभावकी श्रद्धा करनेसे आत्मा रागादिमें एकतारूप परिणमित नहीं हुआ, परन्तु स्वाश्रयसे ज्ञानस्वभावरूप परिणमित हुआ, उसका नाम ज्ञान और आत्माकी एकता है–ऐसा समझना चाहिये।

(२६१) आत्माकी केवलज्ञानकला कैसे विकसित होती है?

प्रत्येक आत्मा चैतन्यस्वभावी है, उसमें केवलज्ञान प्रगट होनेकी शक्ति है। जिस प्रकार–बच्चोंके खेलनेका रंगीन कागजका एक ऐसा खिलौना आता है कि उसके दोनों ओर लगी हुई दोनों लकड़ीकी तीलियोंको पकड़कर खोलनेसे उसमेंसे मोरकी कला जैसी दिखाई देती है। बन्द खिलौनेमें वैसी शक्ति थी, इससे उसमेंसे वह कला विकसित होती है; दूसरे सामान्य कागजोंमें वैसा नहीं होता। उसी प्रकार आत्मा चैतन्यकी केवलज्ञानकलाका भंडार है; उसकी श्रद्धा करके राग और ज्ञानको पृथक् करनेसे केवलज्ञानरूपी पूर्णकला विकसित हो जाती है। परन्तु मैं परका करूँ–ऐसा माने और पर्यायमें क्रोधादि हों उन्हें ज्ञानका स्वरूप माने तो वह जीव ज्ञान और रागको भिन्न नहीं जानता है उसकी

ज्ञानकलाका विकास नहीं होता, परन्तु बन्द ही रहती है।

(२६२) आत्मामें भगवान होनेकी सामर्थ्य है

जिस प्रकार मोरके छोटेसे अंडेमें साढ़े तीन हाथका रंग-बिरंगा मोर होनेकी शक्ति है; उस अंडेकी श्रद्धा करके उसे सेनेसे अल्पकालमें उसमेंसे साक्षात् मोर प्रगट होता है, परन्तु 'इस छोटेसे अंडेमें इतना बड़ा मोर कहाँसे होगा !' ऐसी शंका करके यदि अंडेको हिलाये-डुलाये तो उसमेंसे मोर नहीं होता। उसी प्रकार यह आत्मा चैतन्यस्वरूप, शरीर-मन-वाणी-पुण्य-पापरहित है, उसके परिपूर्ण सामर्थ्यकी श्रद्धा करके उसका सेवन करनेसे वह स्वयं केवलज्ञानरूप हो जाता है। जो सिद्ध भगवान हुये वे अपने स्वभावसामर्थ्यसे ही हुये हैं, और मैं भी ऐसी ही स्वभावसामर्थ्यसे परिपूर्ण हूँ-ऐसी जिसने निःशंक श्रद्धा की, उस जीवको वर्तमान ज्ञानदशा अल्प होने पर भी वह अवस्था त्रिकाली स्वभावकी ओर उन्मुख होती है और उस स्वभावके सेवन द्वारा अल्पकालमें ही उसे केवलज्ञान प्रगट होता है। परंतु 'मैं तो एक अल्पज्ञ प्राणी हूँ, मेरा पैसादिके बिना नहीं चल सकता; और मुझमें भगवान होनेका सामर्थ्य इस समय कैसे हो सकता है ?-इस प्रकार जो जीव स्वभाव सामर्थ्यमें शंका करता है वह मिथ्यादृष्टि है, उसके ज्ञानकला विकसित नहीं होता। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि-हे जीव ! आत्मा परिपूर्ण चैतन्यसामर्थ्यवाला है, उसकी श्रद्धा करो, उसमें निःशंक होओ-बिलकुल शंका मत करो !

(२६३) द्रव्यदृष्टिका फल केवलज्ञान, पर्यायदृष्टिका फल निगोद

ऐसी निःशंक श्रद्धा कब होती है ? वर्तमान अवस्था तो अपूर्ण और पुण्य-पापवाली है; इससे अवस्था पर दृष्टि रखकर यदि निःशंकता

करने जायेगा तो रागरहित त्रिकाली चैतन्यकी निःशंकता नहीं होगी, परन्तु संयोगकी श्रद्धा होगी; विकारमें एकता होगी, वीतरागता और केवलज्ञान विकसित नहीं होंगे, सम्यग्ज्ञान नहीं होगा, परन्तु मिथ्यात्वसे ज्ञानकी अत्यंत हीनता करके वह निगोदमें जायेगा। पर्यायदृष्टिका फल निगोददशा है और द्रव्यदृष्टिका फल केवलज्ञान है। जिसने आत्माके ज्ञानको वर्तमान जितना ही क्षणिक और विकारी माना है उसने त्रिकाली चैतन्यके साथ ज्ञानकी एकता नहीं की–अर्थात् ज्ञानस्वभावकी निःशंकता नहीं की; इससे उसके ज्ञानका परिणमन हीन हो जायेगा और वह एकेन्द्रिय-निगोदिया होगा। विपरीत दृष्टिके कारण संयोगमें और विकारमें ही अपना अस्तित्व मानता है, उस जीवने स्वयं जीवस्वरूपसे अपने अस्तित्वको स्वीकार नहीं किया है, इससे उसका परिणमन ऐसा हो जाता है कि दूसरे साधारण जीव भी जीवस्वरूपसे उसके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करते।

मैं त्रिकाल परमपारिणामिक चैतन्यस्वभाव हूँ–इस प्रकार आत्मस्वभावका निर्णय करके उसमें ढलनेवाला ज्ञान वह जीव है। इस प्रकार ज्ञानको त्रिकाली स्वभावकी ओर बढ़ानेसे क्षणिक रागादि पर्यायकी श्रद्धा–रुचि दूर होकर आत्मस्वभावकी निःशंक श्रद्धा होती है। ज्ञानस्वभावकी ऐसी निःशंक श्रद्धा प्रगट करके स्वभावमें ढलते ढलते केवलज्ञान होता है, और इन्द्र उसका महोत्सव करने आते हैं।

'क्या अकेले ज्ञानसे ही धर्म होता होगा ? या भक्ति-पूजादिसे भी धर्म होता है ?—ऐसी शंका जिसने की और ज्ञानस्वभावमें निःशंक नहीं हुआ वह जीव स्वभावका अनादर करके रागको ही स्वीकार करता है; चैतन्यके केवलज्ञानसामर्थ्यको वह नष्ट कर देता है। त्रिकाल ज्ञानमय जीवकी श्रद्धा करके जो निःशंक हुआ है वह जीव गुण-

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ-३६४२५०

गुणीको विकारसे बचाकर अभेद करता है; पर्यायको द्रव्यमें लीन करके वह केवलज्ञान प्राप्त करता है।

(२६४) बिलकुल शंका नहीं करना

मैं परका कुछ करूँ अथवा श्रुत-शास्त्रादिसे मुझे ज्ञान हो जाये'–ऐसा मानकर जिसने अपने ज्ञानको परसन्मुख ही रोक रखा है उसने आत्मा और ज्ञानमें भिन्नका मानी है; आत्मोन्मुख होनेसे ज्ञान विकसित होता है–उसमें उसने शंका की है, इससे उसका ज्ञान आत्मासे पृथक् ही रहेगा अर्थात् उसका ज्ञान आत्माको जाननेकी ओर नहीं जायेगा, किन्तु परमें एकताबुद्धि करके भवभ्रमण करता रहेगा। जिसने जीव और ज्ञानकी एकतामें निःशंकता करके आत्माको जानने और उसके अनुभवमें अपने ज्ञानको लगाया है उसे आत्मस्वभावके आधारसे ज्ञानकी सम्पूर्ण कला विकसित होकर केवलज्ञान होना है। इसलिये यहाँ निःशंकता पर भार देकर आचार्यदेवने कहा है कि जीव स्वयं ही ज्ञान है; इसलिये ज्ञानकी जीवसे भिन्नता होनेकी शंका बिलकुल नहीं करना चाहिये।

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

[१०]

(वीर सं. २४७४, भाद्रपद शुक्ला ७, गुरुवार)

धर्म करनेके लिये आत्माके स्वरूपको ही जानना चाहिये। आत्माका स्वरूप कैसा है—उसका यह वर्णन चलता है। आत्मा ज्ञानस्वरूपी है, उसका ज्ञान परसे भिन्न है और आत्माके साथ एकमेक है। श्रुत, शब्द, रूप, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, कर्म, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल और आकाश— इन सबसे और अध्यवसानसे ज्ञान पृथक् है तथा जीवके साथ वह एकमेक है अर्थात् जीव ही स्वयं ज्ञान है–ऐसा वर्णन किया है।

जीवकी पर्यायोंके साथ भी ज्ञानकी एकता

जीवद्रव्यके साथ ज्ञान एकमेक होनेसे जीवकी पर्यायके साथ भी वह एकमेक है–ऐसा अब कहते हैं। ''**इस प्रकार ज्ञान जीवसे अभिन्न होनेसे ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है, ज्ञान ही धर्म-अधर्म (पुण्य-पाप) है; ज्ञान ही प्रव्रज्या (दीक्षा, निश्चयचारित्र) है—इस प्रकार ज्ञानका जीवपर्यायोंके साथ भी अव्यतिरेक निश्चय साधित देखना; अर्थात् निश्चय द्वारा सिद्ध हुआ समझना–अनुभवन करना।**''

(२६५) अन्योन्मुख ज्ञान ही सम्यक्त्व है

आत्मासे अभिन्न होनेके कारण ज्ञान ही सम्यग्दर्शन है। अनादिकालसे आत्मस्वभावको भूलकर परमें एकता मानता था इससे ज्ञान स्वाश्रय छोड़कर पराश्रयमें ही रुकता था; वह ज्ञान मिथ्यात्व है;

और परसे भिन्न आत्मस्वभावको जानकर उस स्वभावकी ओर उन्मुख होनेवाला ज्ञान ही सम्यक्त्व है। यहाँ ज्ञानगुण की बात नहीं है, परन्तु स्वभावोन्मुख ज्ञानपर्यायकी बात है। ज्ञानकी जो अवस्था परका और पुण्य-पापका लक्ष छोड़कर स्वभावोन्मुख हुई वह ज्ञान ही आत्मा है; उसका आत्माके साथ किंचित् भेद नहीं है। और ज्ञानकी अवस्था जहाँ आत्मस्वभावोन्मुख हुई वहाँ पर वस्तुओं और पुण्य-पापके साथ एकत्वकी मान्यता दूर हुई तथा ज्ञानस्वभावी आत्माका निर्णय हुआ; इससे वह ज्ञान ही सम्यक्त्व है। शरीरकी क्रियामें अथवा पुण्य-पापके भावमें ज्ञान नहीं है, इससे उनमें सम्यग्दर्शन भी नहीं है, उनसे सम्यग्दर्शन होता भी नहीं है।

(२६६) मिथ्याज्ञान अधर्म और सम्यक्ज्ञान धर्म

नवतत्त्वोंमेंसे सम्यग्दर्शन कौनसा तत्त्व है ? पुण्य या पापतत्त्वमें सम्यग्दर्शन नहीं आता; सम्यग्दर्शन तो संवरतत्त्व है। स्वभावकी प्रतीति करनेवाला ज्ञान ही संवरभाव है और वही सम्यग्दर्शन है। पैसा खर्च करनेसे, शरीरकी क्रियासे अथवा पुण्यसे संवर नहीं होता, परन्तु स्वभावका आश्रय करके जो ज्ञान आत्माके साथ अभेद हो वह ज्ञान ही संवरतत्त्व है; और वही धर्म है। मिथ्या मति-श्रुतज्ञान परनिमित्तोंसे ज्ञान मानकर पर विषयोंमें ही रुकता है और वहाँ एकत्वबुद्धि करता है–जैसे परमें ही ज्ञानका अस्तित्व हो !–ऐसा वह मानता है; वह ज्ञान आत्मा नहीं परन्तु अनात्मा है; वह मिथ्याज्ञान ही अधर्म है, वही असंयम है। और जो ज्ञान त्रिकाली चैतन्यस्वभावकी ओर उन्मुख होकर उसमें एकाकार होता है वह सम्यक्ज्ञान है, वह ज्ञान ही सम्यक्त्व है, वही संयम है। ऐसी प्रतीति करना वह जैनधर्मकी अथवा आत्मस्वभावकी इकाई है; इसे समझे बिना धर्मका प्रारम्भ नहीं होता।

(२६७) कौन-सी क्रियामें आत्मा है?

वर्तमान दशामें अपूर्ण ज्ञान और पुण्य-पाप होने पर भी जिस जीवने अपने ज्ञानमें अंतरंग परिपूर्ण ज्ञानस्वभावकी रुचि की वह जीव कुदेव-कुगुरु-कुधर्मके सेवनसे तो पीठे हट गया; सुदेव-गुरुके आश्रयकी रुचि भी उसके दूर हो गई; अपनी अपूर्ण दशाका आश्रय भी छूट गया और ज्ञानमें अपने पूर्ण स्वभावकी रुचि हुई;–ऐसा ज्ञान ही सम्यक्त्व है; ऐसा ज्ञान करना ही धर्मकी क्रिया है। पुण्यकी क्रियासे अथवा जड़की क्रियासे धर्म नहीं होता; क्योंकि उस क्रियामें आत्मा नहीं है; ज्ञानकी क्रियामें ही आत्मा है, और ज्ञानकी क्रियासे ही धर्म होता है।

(२६८) अज्ञानी बंधता है, ज्ञानी छूटता है

स्वको जाननेके साथ परको भी जाने–ऐसा सम्यक्ज्ञान है; और स्वसे च्युत होकर अकेले परको जाने वह मिथ्याज्ञान है। जिसे अपने स्वरूपका ज्ञान नहीं है वह पाप करे तो भी बंधता है और पुण्य करे तो भी बंधता है; क्योंकि उसने पुण्य-पापमें ही अपने आत्माकी एकता मानी है; परन्तु ज्ञानस्वभावके साथ एकता नहीं मानी है; इससे वह जीव विकारसे नहीं छूटता, किन्तु विकारमें एकत्व मानकर बंधता ही जाता है, उसका संसार नाश नहीं होता। जिसने अपने ज्ञानको आत्मोन्मुख नहीं किया और पुण्य-पापसे पृथक् नहीं जाना वह जीव पुण्यसे भी बंधता जाता है, किन्तु मुक्त नहीं होता; और जिस जीवने अपने ज्ञानको पुण्य-पापसे पृथक् जानकर स्वभावोन्मुख किया है वह जीव वास्तवमें पुण्य-पापसे बंधता नहीं है परन्तु स्वभावके आश्रयसे बंधनसे छूटता ही जाता है। त्रिकाली ज्ञानस्वभाव जैसा है वैसा जानकर उसकी रुचि–प्रतीति की वह जीव सम्यक्दृष्टि हुआ।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ-३६४२५०

(२६९) सम्यग्दर्शन

यहाँ आचार्यदेवने आत्मस्वभावकी ओर उन्मुख होते हुये ज्ञानको ही सम्यक्त्व कहा है, परन्तु देव-शास्त्र-गुरुकी श्रद्धाको सम्यक्त्व नहीं कहा, क्योंकि वह पर है, परोन्मुख होते हुये ज्ञानको तो यहाँ अचेतन कहा है। स्वभावोन्मुख होकर अपने आश्रयसे ज्ञान द्वारा स्वभावकी प्रतीति करना वह सम्यग्दर्शन है। नव तत्त्वके लक्षसे नव तत्त्वोंकी श्रद्धा वह सम्यग्दर्शन नहीं है। आत्माके कारण अजीव शरीरादि चलते हैं–ऐसा माने उसने तो वास्तवमें नव तत्त्वको भी नहीं माना है, जीव और अजीवको एक ही तत्त्व माना है। और पुण्यसे धर्म होता है, शरीरकी क्रियासे धर्म होता है—ऐसा माननेवालेने भी पुण्यतत्त्वको तथा संवर-निर्जरा तत्त्वोंको पृथक् नहीं माना है; वह तो मिथ्यादृष्टि है ही, किन्तु कोई जीव नव तत्त्वोंको माने; लेकिन उनका लक्ष छोड़कर अपने स्वभावकी ओर उन्मुख न हो तो वह मिथ्यादृष्टि है। 'मैं जीवतत्त्व हूँ, अजीवतत्त्व मुझसे पृथक् है'–इत्यादि विकल्प करके ज्ञान रुके तो वह राग-द्वेषरूप अध्यवसान है, उसमें ज्ञान नहीं है।

(२७०) स्व-परका भेदज्ञान

श्रुतसे लेकर अध्यवसान तक समस्त परको अचेतन कहकर पर वस्तुके द्रव्य-गुण-पर्यायसे तो ज्ञानका बिलकुल भिन्नत्व बताया; और जीव स्वयं ही ज्ञान है और उसके गुण-पर्यायें भी ज्ञान ही हैं–ऐसा कहकर जीवके द्रव्य-गुण-पर्याय तीनोंको अभेदरूप एक 'ज्ञान'में ही समाविष्ट कर दिया है। इस प्रकार अपने ज्ञानस्वभावको सर्व परसे भिन्न जानकर जो ज्ञान अपने द्रव्यस्वभावमें उन्मुख होकर लीन हुआ वह ज्ञान स्वयं ही द्रव्य-गुण-पर्यायसे अभेदरूप आत्मा है। इस प्रकार

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

आचार्यदेवने ज्ञानको ही आत्मा कहा और ज्ञानके अतिरिक्त समस्त परको अचेतन कहकर उनसे ज्ञानको स्पष्टतया भिन्न बतलाया है। इस प्रकार स्व-परका भेदविज्ञान कराया है।

(२७१) अनेकान्त और सम्यक् एकान्त

'ज्ञान ही सम्यक्त्व है'–ऐसा कहनेसे एकांत नहीं होता, परन्तु उसीमें अनेकान्त आ जाता है। ज्ञान ही सम्यक्त्व है–ऐसा कहनेसे ज्ञानके अतिरिक्त दूसरे गुणोंका अभाव नहीं हुआ परन्तु ज्ञानमें वे अभेदरूपसे आ गये; वही अनेकान्त है। और अभेद ज्ञानस्वभावमें ज्ञान ढला वह सम्यक्एकान्त है; सम्यक्एकान्त अनेकान्तका प्रयोजन है, वह धर्म है।

(२७२) ज्ञान ही संयम है

स्वभावमें स्थित हुआ ज्ञान ही संयम है, उस ज्ञानसे भिन्न कोई संयम नहीं है। छहकायके जीवोंकी हिंसासे निवृत्तिका शुभराग या पंचमहाव्रतके विकल्प–वह संयम नहीं है। परका और रागका आश्रय छोड़कर त्रिकाल आत्मस्वभावके आश्रयसे जो ज्ञान स्थिर हुआ, वह ज्ञान ही संयम है। शरीरकी क्रियामें संयम नहीं है; पर जीव नहीं मरा वह संयम नहीं है। ज्ञानस्वभावको प्रतीतिमें लेकर ज्ञान उसमें स्थिर हुआ वही संयमभाव है।

ज्ञान स्वयं ही जीव है, स्वयं ही सम्यक्त्व है, स्वयं ही चारित्र है। पहले ज्ञान परमें युक्त होता था वह असंयम था, और फिर ज्ञान ही जीव है—ऐसा मानकर समस्त इन्द्रियोंसे पराङ्मुख होकर ज्ञान अपने आत्मामें युक्त हुआ वही संयम है। परके कारण जिसने ज्ञान माना उसका ज्ञान पर विषयोंमें ही युक्त होता है; जो ज्ञान पर विषयोंमें युक्त

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ-३६४२५०

होकर वहाँ एकता माने वह ज्ञान लंपटी है; जो स्वभावमें लीन हो वह ज्ञान संयमी है। इस प्रकार ज्ञान ही संयम है।

(२७३) ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है

ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है। अज्ञानी जीव शास्त्रके अस्तित्वसे ज्ञानका अस्तित्व मानते हैं; परन्तु शास्त्रके आधारसे ज्ञान नहीं है। शास्त्रोंमें ज्ञान नहीं निकलता परन्तु ज्ञानमेंसे शास्त्र निकले हैं–अर्थात् ज्ञान द्वारा जानकर जो वाणी निकली वह शास्त्र है। आजकल भरतक्षेत्रमें कितने सूत्र हैं ? इस सम्बन्धमें अनेक जीव वाद-विवाद करते हैं। कोई कहते हैं–अमुक आगम विद्यमान है और दूसरे विच्छेद हैं; कोई अमुक आगम बतलाते हैं; लेकिन यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि आगममें ज्ञान है ही नहीं; ज्ञान तो आत्माके आधारसे है। वर्तमानमें सम्यग्दृष्टि जीवको आत्माके साथ ज्ञानकी एकता होकर जितना ज्ञान प्रगट हुआ उतना अंगपूर्वरूप सूत्रका अस्तित्व है; यह ज्ञान ही सूत्र है; पृष्ठों या शास्त्रमें अंगपूर्वका ज्ञान नहीं है। पृष्ठ, अक्षर और वाणी तो पुद्गल हैं। ज्ञानस्वभावमें एकाग्र होनेसे जो ज्ञान जागृत हुआ उस ज्ञानको ही अंगपूर्वरूप सूत्र कहा जाता है। अज्ञानी जीव ग्यारह अंग तक पढ़ जाये तो भी उसका ज्ञातृत्व यथार्थ ज्ञान नहीं है; उसके ज्ञानको तो यहाँ अचेतनमें गिना है। ज्ञानी जीवका आत्मोन्मुख ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है। सूत्रका अर्थ जड़ सूत्रसे नहीं है; लेकिन सूत्रका अर्थ है ज्ञान। धर्मी जीवका इस समय जितना सर्वोत्कृष्ट ज्ञान हो उतना ज्ञान इस समय विद्यमान है, वह ज्ञान पुण्य-पाप रहित है। सूत्र अथवा ज्ञान कहनेसे लोग जड़ पृष्ठोंको देखते हैं, और उनमें ज्ञान मानते हैं, परन्तु वे तो अचेतन हैं उनमें ज्ञान नहीं है। शास्त्रमें लिखे पृष्ठ अक्षरोंको कहीं शास्त्र नहीं जानता; उसमें क्या लिखा है उसके अभिप्रायको तो ज्ञान जानता

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

है; इसलिये ज्ञान ही सूत्र है। इस समयसारमें ४१५ सूत्र हैं, परन्तु वह स्वयं कहीं सूत्रोंके आशयको नहीं जानता; जो ज्ञान आत्मस्वभावोन्मुख होता है वही ज्ञान सूत्रोंके आशयको जाननेवाला है। आत्माकी ज्ञानदशा कहीं जड़में नहीं होती। इसलिये जो ज्ञान प्रगट होकर आत्मामें अभेद हुआ वह ज्ञान ही बारह अंग और चौदह पूर्व है।

सूत्रके शब्दोंसे और सूत्रकी ओरके रागसे ज्ञान पृथक् है;—ऐसा समझकर उसका आश्रय छोड़कर जो ज्ञान अपने आत्माकी ओर उन्मुख होता है वही ज्ञान–'सूत्रोंके कहनेका आशय क्या है'—उसे समझ सकता है। सूत्रोंका अथवा रागका आश्रय मानकर रुक जाये, तो वह ज्ञान सूत्रोंके आशयको नहीं समझ सकता। कदाचित् सूत्र तो लिखे हों, लेकिन उनके आशयको समझनेवाला ज्ञान न हो तो ? वे सूत्र विच्छेदरूप ही कहलायेंगे। इसलिये सम्यग्ज्ञान ही सूत्र है। इस जगतमें परवस्तु है–सूत्र है; अज्ञानदशामें उस ओर उन्मुख होता था वह उन्मुखता बदलकर ज्ञान, स्वभावोन्मुख हुआ तब वह ज्ञान अंगपूर्वके आशयको समझता है। इसमें निश्चय और व्यवहार दोनों आ गये; लेकिन अब निश्चयकी ओर ढलता है तब व्यवहारका सच्चा ज्ञान होता है–ऐसा भी आया।

तीर्थंकर भगवानकी दिव्यवाणीमें अंगपूर्वका ज्ञान नहीं है, क्योंकि वह वाणी स्वयं अचेतन है। धर्मी जीवके आत्मस्वभावोन्मुख होनेसे जो ज्ञान विकसित हुआ वह ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है।

(२७४) ज्ञान ही धर्म–अधर्म है

पुनश्च, ज्ञान ही धर्म-अधर्म है। यहाँ धर्मका अर्थ पुण्य और अधर्मका अर्थ पाप–ऐसा समझना चाहिये। ज्ञान ही पुण्य-पाप है।

देखो, पहले टीकामें 'अध्यवसान ज्ञान नहीं है'–ऐसा कहकर

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ-३६४२५०

आचार्यदेवने ज्ञानको और पुण्य-पापको भिन्न बतलाया था, और कहते हैं कि ज्ञान ही पुण्य-पाप है। पहले तो परसे भिन्न ज्ञानस्वभाव बतलाकर भेदज्ञान कराना था, इससे वहाँ पुण्य-पापको ज्ञानसे भिन्न कहा था; और यहाँ अब साधकपर्यायका ज्ञान कराते हैं; साधकपर्यायमें पुण्य-पाप होते हैं–इतना मात्र बतलानेके लिये यहाँ कथन है। परन्तु पहले तो ज्ञान पुण्य-पापसे पृथक् है–ऐसा जान लेनेके पश्चात् साधकदशाकी यह बात है। पुण्य-पाप होते हैं वे ज्ञानकी अवस्थामें होते हैं, परमें नहीं होते और न परके कारण होते हैं। धर्मी जीवका ज्ञान उन राग-द्वेषको भी जानता है। साधकदशामें ज्ञानका परिणमन हीन है; ज्ञान ही विभावमें रुकता है इसलिये ज्ञान ही पुण्य-पाप है–ऐसा कहा है। पहले तो पृथक् जान लेनेके बादकी यह बात है, स्वभावदृष्टिपूर्वक अपूर्ण पर्यायका ज्ञान कराया है। साधकदशामें जो पुण्य-पाप होते हैं वे कर्मके कारण नहीं होते परन्तु ज्ञानस्वभावमें पूर्ण स्थिर नहीं हुआ–इससे पुण्य-पाप होते हैं। यह पुण्य-पाप एकत्वबुद्धिसे नहीं हैं। ज्ञान, पुण्य-पाप नहीं है–ऐसा पहले कहा था, वहाँ तो एकत्वबुद्धिके पुण्य-पाप थे। जहाँ पुण्य-पापमें एकत्वबुद्धि थी वहाँ सच्चा ज्ञान ही नहीं था, एकत्वबुद्धिके पुण्य-पाप और सच्चा ज्ञान–दोनों एक साथ नहीं होते; इसलिये ज्ञान और पुण्य-पापको पृथक् कहा; वहाँ पुण्य-पाप ज्ञान नहीं हैं—ऐसा कहकर पुण्य-पापमें एकत्वबुद्धि छुड़ाई थी। पुण्य-पापमें एकत्वबुद्धि छूटकर सम्यग्ज्ञान हुआ, वहाँ सम्यग्ज्ञान होने पर भी पुण्य-पाप होते हैं। इस प्रकार साधकदशामें सम्यग्ज्ञान और पुण्य-पाप दोनों साथ हैं, इससे यहाँ 'ज्ञान ही पुण्य-पाप है'—ऐसा कहा है। सम्यग्ज्ञान होनेसे यह ज्ञान, अवस्थाको भी जानता है कि आत्माकी अवस्था अपूर्ण है और पुण्य-पाप होते हैं। आत्माकी अवस्थामें पुण्य-पाप होते हैं–वह त्रिकाल नहीं हैं। ज्ञानी जीव त्रिकाल

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

स्वभावके आश्रयसे अवस्थाका ज्ञान करता है; अज्ञानी जीव पुण्य-पापको जाननेसे उसमें एकताबुद्धि करता है; इसलिये उसके तो पुण्य-पाप ही हैं,–ज्ञान नहीं है। उन पुण्य-पापमें ज्ञानका अभाव है। ज्ञानीको आत्मस्वभावोन्मुख होनेसे सम्यग्ज्ञान हुआ और पुण्य-पापमें एकत्वबुद्धि छूट गई, तथापि अभी साधक पर्यायमें पुण्य-पाप होते हैं उन्हें वह ज्ञानी बराबर जानता है। इस प्रकार द्रव्य-पर्यायके ज्ञानकी संधि है। जो पुण्य-पापसे लाभ मानते हैं वे तो पुण्य-पापसे भिन्न ज्ञानस्वभावको भूल जाते हैं, उन्हें सम्यग्ज्ञान नहीं होता; और दूसरे कोई जीव, 'आत्मा पुण्य-पाप रहित शुद्ध ही है'—ऐसा एकान्तरूपसे मानकर–'पुण्य-पाप कर्मके घरके हैं'—ऐसा मान बैठते हैं, वे जीव पर्यायको भूल जाते हैं, उन्हें भी सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

यहाँ तो ज्ञान ही पुण्य-पाप हैं ऐसा कहकर पारिणामिकभावकी पर्यायका वर्णन किया है। पुण्य-पाप भी पारिणामिकभावसे होते हैं, पारिणामिकभाव ही पर्यायमें विभावरूपसे परिणमित हुआ है; कर्मके उदयसे पुण्य-पाप नहीं हुये हैं। अभी पारिणामिकभाव पूर्ण स्वभावरूप परिणमित नहीं हुआ है–इससे पुण्य-पाप होते हैं।

(२७५) जीवद्रव्य और जीवकी पर्यायोंके साथ ज्ञानकी एकता

प्रथम द्रव्यके साथ ज्ञानका अभेदपना बतलाया कि–जीव ही ज्ञान है, जीव और ज्ञानमें पृथक्त्वकी शंका बिलकुल नहीं करना चाहिये। इस प्रकार पहले अभेदस्वभावकी श्रद्धा कराके फिर पर्यायका भी ज्ञान कराया कि ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अंगपूर्वरूप सूत्र है, ज्ञान ही पुण्य-पाप है और ज्ञान ही दीक्षा–निश्चयचारित्र है। इस प्रकार जीवद्रव्यके साथ और जीवकी पर्यायोंके साथ ज्ञानकी एकता और पर द्रव्य तथा उसकी पर्यायोंसे ज्ञानकी भिन्नता

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ-३६४२५०

निश्चय द्वारा सिद्ध हुई समझना–अनुभवन करना,–उसका नाम भेदविज्ञान है, वह अपूर्व धर्म है।

(२७६) जहाँ रुचि वहाँ निःशंकता। अज्ञानी परमें सुख मानकर निःशंक होता है और ज्ञानी स्वभावमें निःशंक होता है

स्त्री-लक्ष्मी-भोजनादि विषयोंमें कभी सुख देखा नहीं है, और वहाँ सुख है भी नहीं; तथापि, आत्मामें सुख है उसे भूलकर पर विषयमें सुख मान रखा है। पैसा, मकान, भोजन, शरीरादि तो परमाणुके बने हुये हैं–अचेतन हैं; क्या उन अचेतन परमाणुओंमें सुख है ? उनमें कहीं भी सुख नहीं है और न वे सुखके कारण ही हैं; तथापि विपरीत रुचिके कारण वहाँ निःशंकतया सुखकी कल्पना कर रखी है। जहाँ सुख नहीं है वहाँ माना है इसलिये वह मान्यता मिथ्या है। यदि विपरीत रुचिको पलटकर आत्माकी रुचि करे तो आत्माके स्वभावमें सुख है उसका प्रत्यक्ष अनुभव हो। यदि लड्डूमें सुख हो तो उसका यह मतलब हुआ कि जब लड्डू खाये तब आत्मामें सुख आये, और जब वह विष्टारूप होकर बाहर निकल जाये तब आत्मामेंसे सुख चला जाये ! लड्डूमें सुख नहीं है, उसमें जो सुख भासित होता है वह तो मात्र अज्ञानीकी मिथ्या कल्पना है। वह कल्पना तो अपनेमें स्वयं ही बनाई है। सुखकी कल्पना कहाँ होती है—उसका भी कभी विचार नहीं किया है। आत्माके अतिरिक्त अन्य किन्हीं भी पदार्थोंमें न तो कभी सुख देखा है, और न उनमें है ही; तथापि वहाँ सुखकी कल्पना खड़ी करके निःशंकतया सुख मान लिया है; असत् कल्पना खड़ी की है। परमें सुख न होने पर भी और न कभी देखा होने पर भी मात्र रुचिके विश्वाससे मान लिया है। इसलिये 'देखे तभी मानता है' ऐसा नहीं है; परन्तु जहाँ रुचिकर प्रतीति होता है वहाँ निःशंक हो जाता है। विपरीत

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

रुचिका बल है इससे, परमें सुख नहीं है ऐसा लाखों ज्ञानी कहें, तथापि वह अपनी मान्यताको नहीं बदलता। तब फिर अपने आत्मस्वभावमें तो परिपूर्ण सुख है, उसे जानकर मानना वह तो सत्पदार्थकी रुचि है; यदि स्वभावकी प्रतीति और रुचि करे तो स्वभावका सुख तो ज्ञात हो, और अनुभवमें आये ऐसा है। परमें सुख माना, वह तो असत् प्रतीति थी, इससे दुःख था। परमें सुख है ही नहीं तो उसकी प्रतीति करनेसे कैसे सुख प्रगट हो? अपने स्वभावमें सुख है उसे मानना वह सत् प्रतीति है; और ऐसी प्रतीति करे तो स्वभावमेंसे सुख प्रगट होता है। ज्ञानमें जो ज्ञात हो उसीको माने, ऐसा जीवकी श्रद्धाका स्वभाव नहीं है, परन्तु जो अपनेको रुचता है उसे वह मानता है, और वहाँ निःशंक हो जाता है। यदि स्वभावकी रुचि करे तो स्वभावके सुखका तो ज्ञानमें अनुभव हो सकता है। आत्माका सुख परमें है–ऐसी विपरीत श्रद्धा ही महान पाप है।

आत्माका श्रद्धागुण ऐसा है कि जहाँ रुचि हो वहाँ वह निःशंक हो जाता है। अपने स्वभावमें निःशंक हो तो धर्म होता है, और परमें सुख मानकर वहाँ निःशंक हो तो अधर्म होता है। परको जाननेसे आत्माका ज्ञान परमें रुक गया है और वही सुख मान लिया है, परन्तु उस मान्यतामें, उस ज्ञानमें या परवस्तुमें स्वयं कभी सुख नहीं देखा है; और उस किसीमें सुख नहीं है–ऐसा अनंत तीर्थंकरोंने कहा है, तथापि स्वयं उस मान्यताको नहीं छोड़ता। देखो, अनंत तीर्थंकर कहें तो भी अपनेको जो बात रुचिकर प्रतीत हुई उसे नहीं छोड़ता–ऐसी दृढ़तावाला है। उसी प्रकार स्वभावकी रुचिसे जिसे स्वभावमें सुखकी श्रद्धा हुई वह जीव ऐसा दृढ़ होता है कि–यदि इन्द्र भी उसे श्रद्धासे डिगाने आये तब भी न डिगे; सारा जगत न माने और प्रतिकूल हो जाये तब भी उसके स्वभावकी श्रद्धा न बदले। सम्पूर्ण आत्मा केवलज्ञानमें जैसा

प्रत्यक्ष ज्ञात होता है वैसा उस जीवको भले ही प्रत्यक्ष ज्ञात न हो; परन्तु जैसा केवलीने देखा है वैसे ही परिपूर्ण आत्मस्वभावकी दृढ़ प्रतीति उसे होती है। जैसा आत्मा केवलीकी श्रद्धामें है वैसा ही उस साधक धर्मात्माकी श्रद्धामें है; उस श्रद्धामें वह निःशंक है, किसीकी दरकार नहीं रखता। ऐसी प्रतीति करना ही धर्मका उपाय है।

अफीम खानेमें अथवा अग्निमें जल-मरने आदिमें सुखकी कल्पना करते हैं। क्या अफीम या अग्निमें सुख है? वहाँ सुख नहीं है, मात्र अज्ञानसे मान रखा है। अज्ञान द्वारा परमें सुखकी कल्पना करनेमें भी परका आश्रय नहीं करता, अपने आप कल्पना करके, जहाँ नहीं होता वहाँ भी मान लेता है; तब फिर अपने स्वभावमें सुख है, उसे किसी परका आश्रय नहीं है, और उस स्वभावकी श्रद्धा भी पराश्रय रहित है।

[११]

(वीर सं. २४७४, भाद्रपद शुक्ला ८, शुक्रवार)

आत्मा परसे और विकारसे भिन्न है, और ज्ञानके साथ एकमेक है–ऐसा माने तो, ज्ञान परसे हटकर अपने स्वभावकी ओर उन्मुख हो– वह धर्म है।

(२७७) ज्ञान ही दीक्षा है

जो ज्ञान आत्मस्वभावकी ओर उन्मुख होकर प्रतीति करता है उस ज्ञानरूप परिणमित हुआ आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, वही सूत्र है, वही संयम है, वही दीक्षा है; और वही सुख तथा धर्म है। वस्त्र परिवर्तित हो जायें अथवा शरीरकी अवस्था वस्त्र रहित हो जाये तो उसका नाम दीक्षा या प्रव्रज्या नहीं है, क्योंकि वह तो अचेतन हैं। शरीर और राग रहित आत्माकी श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें जो ज्ञान एकाग्र हुआ वह ज्ञान ही दीक्षा है। और वह ज्ञान आत्मासे पृथक् नहीं है इससे आत्मा ही दीक्षा है।

(२७८) स्व-परका भेदविज्ञान वह मोक्षमार्ग

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे आत्मा एकमेक है; आत्मासे बाहर कहीं भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं हैं; इस प्रकार जीव द्रव्य और जीवकी दर्शन-चारित्रादि जितनी पर्यायें हैं उनके साथ ज्ञानको अभिन्नरूपसे देखना चाहिये, अर्थात् पर्याय पर्यायमें अंतरमें ज्ञानस्वभावका निश्चय साधित अनुभवन करना चाहिये। ज्ञानको स्वभावसे एकमेक और परसे बिलकुल भिन्न अनुभवन करना–जानना– मानना चाहिये। वह भेदज्ञान है और वही मोक्षमार्ग है।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ-३६४२५०

हे जीव ! तेरे ज्ञानको और सर्व गुणोंको ज्ञानके साथ एकमेक बतलाया और परसे भिन्न बतलाया; इसलिये तू अपने गुणोंको–अपने धर्मको परमें मत ढूंढ; परन्तु अपने स्वभावमें ही देख–अपने स्वभावको पहिचान ! तेरे गुण परमें नहीं हैं इसलिये परसन्मुख देखनेसे तेरे गुण प्रगट नहीं होंगे। तेरे गुण स्वभावमें एकमेक हैं, इसलिये स्वभावसन्मुख देखनेसे वे प्रगट होंगे। इसलिये स्व-परका भेदज्ञान करके स्वसन्मुख हो !

* ज्ञानस्वभावके अनुभवका उपदेश *

अब आचार्यदेव सर्व कथनके साररूप कहते हैं कि–यहाँ बतलाया है इस प्रकार सर्व परद्रव्योंसे पृथक् और अपने स्वभावसे अभेद–ऐसे शुद्धज्ञानको देखना, ऐसे शुद्धज्ञानका अनुभवन करना–इसीमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग आ जाता है। अब **"इस प्रकार सर्व परद्रव्योंके साथ व्यतिरेक द्वारा और सर्व दर्शनादि जीव स्वभावोंके साथ अव्यतिरेक द्वारा.....परमार्थरूप शुद्ध ज्ञान एक अवस्थित देखना चाहिये, अर्थात् प्रत्यक्ष स्वसंवेदनसे अनुभवन करना चाहिये।"**

(२७९) भेदज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती

आत्माकी ओर ढलती हुई निर्मल पर्यायको यहाँ जीवस्वभाव कहा है, क्योंकि वह पर्याय स्वभावके साथ अभेद है। आत्मस्वभावोन्मुख होनेसे जो सम्यग्दर्शनादि निर्मल दशाएँ प्रगट हुईं उनसे ज्ञान पृथक् नहीं है, अर्थात् ज्ञानस्वरूपी आत्मा और निर्मल पर्यायें अभेद हैं। जो जीव अपने ज्ञानकी आत्माके साथ एकता और परसे भिन्नता मानता है वह जीव अपने ज्ञानको पर लक्षसे छुड़ाकर आत्मामें एकाग्र करता है–इससे उसका ज्ञान शुद्धस्वभावरूप परिणमित होता है

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

और विकारसे मुक्त हो जाता है। जैसे–घरमें जिस पुत्रके साथ नहीं बनती उससे अलग होता है, लेकिन जिससे प्रेम हो उससे अलग नहीं होता। उसी प्रकार आत्माको जिन पदार्थों पर प्रेमभाव (एकताबुद्धि) हो उनसे वह अपनेको पृथक् नहीं मानता और उनका लक्ष छोड़कर स्वभावमें नहीं आता। परन्तु परको पृथक् माने तो उसका लक्ष छोड़कर ज्ञानस्वभावकी ओर ढलकर उसमें एकाग्रता करे। जो जीव किसी भी परवस्तुसे अपनेको सुख या धर्म होना माने वह जीव उस वस्तुसे अपनेको पृथक् नहीं मानता, और जिससे अपनेको पृथक् नहीं मानता उस परसे अपना लक्ष नहीं हटाता। परके ऊपरसे ज्ञानका लक्ष नहीं हटाता इससे पृथ्क होकर स्वभावमें नहीं आता और उसकी मुक्ति नहीं होती। परसे मिथ्यात्वका ज्ञान (भेदज्ञान) ही मुक्तिका उपाय है। जो शरीरादिमें सुख मानता है उसे उन शरीरादि पर प्रेम है, इससे उनसे वह अपनेको पृथक् नहीं मानता। उनसे पृथक् है तथापि नहीं मानता–यह मान्यता अज्ञान है। जिसे स्वभावकी रुचि है–प्रेम है वह जीव स्वभावके आधारसे प्रगट हुई निर्मल पर्यायोंसे अपनेको पृथक् नहीं मानता; विकारको अपनेसे पृथक् नहीं मानता है, परन्तु श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रको पृथक् नहीं मानता; क्योंकि श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र तो आत्माके साथ ही एकमेक हैं।

(२८०) अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषका निवारण

यहाँ ज्ञानस्वभावसे आत्माकी पहिचान कराई है। ज्ञान आत्मामें है और परमें नहीं है–ऐसा समझे तो अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष दूर होते हैं। आत्माका ज्ञान परवस्तुसे होता है—ऐसा जो मानता है उसे अतिव्याप्ति दोष आता है। आत्माका ज्ञान आत्मामें भी रहता है और उसके अतिरिक्त दूसरे पदार्थोंमें भी रहता है—ऐसा मानना वह अतिव्याप्ति दोष है; और आत्मा अपने श्रद्धा-ज्ञानादिसे भिन्न है—ऐसा

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ-३६४२५०

मानना वह अव्याप्ति है। आत्माका ज्ञान परका कुछ भी करता है—ऐसा मानना वह अतिव्याप्ति दोष है। आत्माका ज्ञान परका कुछ नहीं कर सकता, और परपदार्थोंसे किंचित् ज्ञान नहीं होता; ज्ञान अपने आत्मासे और श्रद्धा आदि पर्यायोंसे किंचित् भिन्न नहीं है—ऐसा समझना वह सम्यग्ज्ञान है, उसमें अतिव्याप्ति या अव्याप्ति दोष नहीं है। ऐसे ज्ञानस्वभावका अनुभवन करना चाहिये—ऐसा यहाँ उपदेश है। उस ज्ञानस्वभावका यह वर्णन है।

(२८१) संसारका मूल मिथ्यात्व, मोक्षका मूल सम्यक्त्व

अपने ज्ञानको पराधीन माना है, परके साथ एकमेक माना है; वह अनादिका विभ्रम है, वह अनादिविभ्रम पुण्य-पापका मूल है और वही संसारका मूल है। अपने स्वाधीन ज्ञानकी प्रतीति करे तो वह अनादि विभ्रम दूर होकर सम्यक्त्व होता है, वह सम्यक्त्व ही मोक्षका मूल है। दर्शनप्राभृतमें भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवका सूत्र है कि—'दंसणमूलो धम्मो' अर्थात् धर्मका मूल सम्यक्दर्शन है। संसारका मूल मिथ्यात्व है और मोक्षका मूल सम्यक्त्व है।

(२८२) ज्ञानीकी स्वभावमें एकता है, और अज्ञानीकी पुण्य-पापमें।

विकार और आत्माकी एकत्वबुद्धि वह अनादिविभ्रम है; वह विभ्रम ही पुण्य-पापका मूल है, और पुण्य-पाप परसमय है। यहाँ अज्ञानीके ही पुण्य-पापकी बात है, क्योंकि उसीको पुण्य-पापमें एकताबुद्धि है। ज्ञानीको पुण्य-पापमें एकताबुद्धि नहीं है इससे यहाँ उसके पुण्य-पापकी गिनती नहीं की है। आत्माके स्वभावकी श्रद्धा करके उसमें एकता—अभेदता हो वह स्व-समय है, और वह पुण्य-पापका नाश करके मोक्ष प्रगट करनेका मूल है। एकरूप स्वभावमेंसे

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

भेद पड़कर जो पुण्य-पाप होते हैं वह अधर्म है। ध्रुव–चैतन्यस्वभावमें एकताका मूल सम्यक्त्व है; और परके साथ एकता मानकर पुण्य-पापरूप द्वित्व होनेका मूल मिथ्यात्व है। ज्ञानीको पुण्य-पापके समय भी स्वभावकी एकता ही होती है, उसे पुण्य-पापमें एकता होती ही नहीं। अज्ञानी जीव ज्ञानस्वभावमें एकता न करके पुण्य-पापमें एकता करता है वह भ्रम है–मिथ्यात्व है; वह भ्रम ही स्वभावकी एकता छोड़कर द्वित्व खड़ा करता है। जो पुण्य-पापके साथ आत्माकी एकता मानता है, उस अज्ञानीको पुण्य-पापकी ही उत्पत्ति होती है, परन्तु ज्ञानस्वभावकी एकता नहीं होती; इसलिये उस भ्रमको ही पुण्य-पापका मूल कारण कहा है। वह भ्रम दूर होकर सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् ज्ञानीके पुण्य-पापकी उत्पत्ति नहीं गिनी है; क्योंकि उसके तो आत्मस्वभावकी अभेदतासे शुद्धताका उत्पाद है। जिसे पुण्य-पापके समय भी स्वभावकी एकताकी उत्पत्ति भासित होती है वह सम्यग्दृष्टि है, और पुण्य-पापके समय जिसे पुण्य-पापकी ही उत्पत्ति भासित होती है, किन्तु स्वभावकी एकता भासित नहीं होती वह मिथ्यादृष्टि है।

श्रद्धा-ज्ञान आत्मासे बाहर नहीं जाते और श्रद्धा-ज्ञानसे आत्मा पृथक् नहीं रहता। श्रद्धा-ज्ञानादि आत्मासे एकमेक हैं और परसे पृथक् हैं। इस प्रकार परसे भिन्नत्वको समझे उसे परसन्मुख देखना नहीं रहा, परन्तु अपने स्वभावमें ही देखना रहा। उसे स्वभावके लक्षसे प्रतिक्षण ज्ञानकी शुद्धताकी ही उत्पत्ति होती है।

(२८३) मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि

शरीर-मन-वाणीका अस्तित्व मुझसे है–ऐसा जो मानता है वह मिथ्यादृष्टि है; मेरा अस्तित्व शरीर-मन-वाणीके कारण है–ऐसा माने वह भी मिथ्यादृष्टि है। पुण्य-पापका जो क्षणिक अस्तित्व है उस

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ-३६४२५०

पुण्य-पापको आत्माके स्वभावमें माने वह मिथ्यादृष्टि है; और उस पुण्य-पापके कारण आत्मा टिका है—ऐसा माने वह भी मिथ्यादृष्टि है। जिसे पुण्य-पापके अस्तित्वकी ही मुख्यता भासित होती है वह मिथ्यादृष्टि है और जिसे शुद्धस्वभावकी ही मुख्यता भासित होती है वह सम्यग्दृष्टि है। प्रतिसमय शुद्धताका प्रतिभास हो उसका मूल सम्यग्दर्शन है। एसा एक समय भी यदि स्वभावकी मुख्यता छोड़कर पुण्य-पापकी मुख्यता हो तो उस जीवके धर्म स्थायी नहीं रहेगा।

पुण्य-पाप हैं वह परसमय है, अनात्मा है। जिसे उसीका अस्तित्व भासित होता है वह मिथ्यादृष्टि है। पुण्य-पापके समय ही चैतन्यस्वभावमें जिसे दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता भासित होती है वह सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दर्शनके प्रभावसे पर्याय पर्यायमें स्वभावकी एकता ही बढ़ती जाती है। इसलिये आचार्य भगवान कहते हैं कि हे भाई ! एकबार तू ऐसा मान कि ज्ञानस्वरूप ही मैं हूँ, मुझमें रागादि है ही नहीं। पर्यायमें रागादि होते हैं वह मेरे स्वरूपमें नहीं हैं और न मेरा ज्ञान उस रागमें एकमेक होता है;— इस प्रकार राग और ज्ञानकी भिन्नताको जानकर एकबार तो रागसे पृथक् होकर आत्माके ज्ञानका अनुभव कर ! अपने ज्ञानसमुद्रमें एकबार तो डुबकी मार !

(२८४) स्वमें एकताका अभिप्राय वह धर्म, और परमें एकताका अभिप्राय वह अधर्म

ज्ञानको स्वोन्मुख करके ऐसी प्रतीति की कि ज्ञानस्वरूप ही मैं हूँ; और पुण्य-पाप तथा पर वस्तुएँ मैं नहीं हूँ–वही अनेकान्त है। जो पुण्य-पाप है वहीं मैं हूँ, उससे भिन्न कहीं मेरा स्वरूप नहीं है–ऐसा मानना वह एकान्त है, मिथ्यात्व है, वही पुण्य-पापकी उत्पत्तिका मूल है। और मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, पुण्य-पाप मैं नहीं हूँ–ऐसी जो प्रतीति

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

है वह पुण्य-पापका नाश करके केवलज्ञान प्रगट करनेका मूल है। बस, स्वमें एकताका अभिप्राय वह धर्म है और परमें एकताका अभिप्राय वह अधर्म है। जिसे स्वमें एकताका अभिप्राय है उसे स्वके आश्रयसे धर्म की ही उत्पत्ति है, और जिसे परमें एकताका अभिप्राय है, उसे परके आश्रयसे अधर्मकी ही उत्पत्ति होती है। जिसे पुण्य-पापका ही उत्पाद भासित होता है उसे उस समय उसका व्यय भासित नहीं होता। पुण्य-पापके समय उस पुण्य-पापको व्यय करनेका स्वभाव है–वह उसे भासित नहीं होता। पुण्य-पापसे पृथक् पुण्य-पापका व्यय करनेवाला स्वभाव जिसे भासित नहीं होता वह पुण्य-पापका व्यय नहीं कर सकता, इससे उसे शुद्धता नहीं होती। जिसे पुण्य-पाप रहित स्वभावका भान है वह जीव पुण्य-पापके समय भी स्वभावकी एकतारूप ही उत्पन्न होता है, इससे उस समय भी उसे ज्ञानकी शुद्धताकी उत्पत्तिमें ही वृद्धि होती है, पुण्य-पापकी उत्पत्ति नहीं बढ़ती। यह 'सर्वविशुद्ध ज्ञान अधिकार' है इससे स्वभावकी श्रद्धासे पर्यायमें प्रतिसमय ज्ञानकी विशुद्धता होती जाती है—उसका यह वर्णन है।

(२८५) ज्ञानीके ज्ञानकी वृद्धि होती है और अज्ञानीके विकारकी

हे भाई ! जिस क्षण पुण्य-पाप है उसी समय आत्मस्वभाव है या नहीं ? यदि 'है' तो उस समय तुझे अपना ज्ञान आत्मस्वभावोन्मुख भासित होता है कि पुण्य-पापोन्मुख ही भासित होता है ? जिसका ज्ञान आत्मस्वभावोन्मुख है उसे तो पुण्य-पापके समय भी ज्ञान आत्मस्वभावमें एकतारूप ही कार्य करता है इससे ज्ञानकी शुद्धि बढ़ती जाती है; और जिसका ज्ञान आत्मस्वभावका अभाव छोड़कर पुण्य-

पापमें ही उन्मुख हुआ है उसे मिथ्याज्ञान है; उसके ज्ञानकी हानि होती जाती है और पुण्य-पापरूप विकारभावोंमें वृद्धि होती है।

एक ही कालमें त्रिकाली स्वभाव और क्षणिक पुण्य-पाप दोनों हैं। उनमें त्रिकाली स्वभावका अस्तित्व स्वीकार करके उसका आश्रय करना वह धर्मका मूल है। और त्रिकाली स्वभावका अस्तित्व स्वीकार न करके परका और क्षणिक पुण्य-पापका अस्तित्व स्वीकार करना– वह मिथ्यात्व है, वह पापका मूल है। ज्ञानीको त्रिकाली स्वभावोन्मुख परिणामोंसे प्रति समय निर्मल परिणामोंकी उत्पत्ति ही भासित होती है, और विकारकी उत्पत्ति भासित नहीं होती, किन्तु व्यय भासित होता है। अज्ञानीको विकारकी उत्पत्ति ही भासित होती है, परन्तु शुद्ध आत्माका अस्तित्व भासित नहीं होता, इससे उसके शुद्धताकी उत्पत्ति नहीं होती। ज्ञानीको शुद्धात्माका अस्तित्व भासित होता है और उसमें पुण्य-पापका अस्तित्व भासित नहीं होता इससे उसे वास्तवमें शुद्धात्माकी ही उत्पत्ति होती है और पुण्य-पापकी उत्पत्ति नहीं होती।

(२८६) स्वभावोन्मुख ज्ञान वह स्वसमय है और वही मोक्षमार्ग है

इस शास्त्रकी दूसरी गाथामें स्वसमय और परसमयका स्वरूप बतलाया था। यहाँ पर समयको दूर करके स्वसमयको प्राप्त करनेकी बात कही है। अपने ज्ञानरूपी नेत्रोंको जिस ओर घुमाये उसका अस्तित्व भासित होता है, और उसकी ओर परिणमन होता है। मिथ्यात्व ही पुण्य-पापका मूल है–ऐसा कहकर मिथ्यात्वका नाश करनेको कहा है। मिथ्यात्वको दूर करनेसे पुण्य-पाप भी दूर हो ही जाते हैं। मिथ्यात्वको पुण्य-पापका मूल कहा उसमें यह भी आ गया कि सम्यक्त्व ही चारित्रका मूल है। स्वभावकी श्रद्धा करके ज्ञान उसमें

स्थित हुआ वही चारित्र है। ज्ञान अपने आत्मस्वभावमें स्थिर हो उसीमें दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग आ जाता है, स्वभावकी ओर उन्मुख हुआ ज्ञान स्वयं ही मोक्षमार्ग है। आत्मस्वभावके आश्रयसे जो ज्ञान परिणमित हुआ उसमें मोक्षमार्ग आ गया। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित आत्माको प्राप्त करना वह स्व-समयकी प्राप्ति है। स्वभावोन्मुख निर्मलदशाको यहाँ स्वसमयकी प्राप्ति कहा है, वह मोक्षमार्ग है, वही धर्म है। मोक्षमार्गरूप आत्मा स्वयं ही परिणमित हो जाता है। आत्माके स्वभावकी पहिचान करके, आत्मामें ही प्रवृत्तिरूप स्वसमयको प्राप्त करके शुद्ध ज्ञानको देखना चाहिये। वह शुद्ध ज्ञान त्याग-ग्रहणसे रहित है; उसने सम्पूर्ण विज्ञानघन स्वभावको प्राप्त किया है, वह साक्षात् समयसारभूत है, और परमार्थरूप है। ऐसे शुद्ध ज्ञानका सर्व परवस्तुओंसे स्पष्टरूप अनुभवन करना चाहिये।

[१२]

(वीर सं. २४७४, भाद्रपद शुक्ला ९, शनिवार)

(२८७) ज्ञानमें परका ग्रहण-त्याग नहीं है

आत्माके ज्ञानस्वभावमें किसी परवस्तुका ग्रहण या त्याग नहीं है। ज्ञानस्वभावको पकड़नेसे–अर्थात् ज्ञानस्वभावमें एकाग्र होनेसे विकार छूट जाता है, वही स्वभावका ग्रहण और विकारका त्याग है। इसके अतिरिक्त परका कुछ भी ग्रहण-त्याग ज्ञानमें नहीं है। तत्त्वार्थ राजवार्तिकमें कहा है कि आत्माके कहीं हाथ–पैर नहीं हैं कि पर वस्तुओंको पकड़े और छोड़े। परमार्थसे तो आत्मा विकारका भी ग्रहण करनेवाला या छोड़नेवाला नहीं है। मैं विकारी हूँ—ऐसी विपरीत श्रद्धाका त्याग हुआ वही विकारका त्याग है, और 'विकार रहित शुद्धस्वभाव है'–ऐसी श्रद्धा की वही स्वरूपका ग्रहण है। अज्ञान दशामें जीव परका ग्रहण–त्याग करना मानता है, परन्तु परका ग्रहण या त्याग कर तो सकता नहीं है। नदीमें पानी बढ़ता जा रहा हो, वहाँ कोई किनारे पर खड़ा हुआ मनुष्य ऐसा माने कि–'यह पानी मेरा है' और फिर वह कहे कि 'अब मैं इस पानीको छोड़ देता हूँ' वहाँ वास्तवमें उस मनुष्यने पानीको पकड़ा नहीं है और न छोड़ा ही है। पानी तो अपने प्रवाहमें बहता ही आ रहा है। उस मनुष्यने मात्र पानीके ग्रहण-त्यागकी मान्यता की है, परन्तु पानीका ग्रहण या त्याग तो किया ही नहीं है; मनुष्य तो पानीके ग्रहण-त्याग रहित है। इस दृष्टांतसे ज्ञानको भी ग्रहण-त्याग रहित समझना चाहिये। इस जगतके पदार्थ सब अपने-अपने स्वभावक्रममें परिणमित होते हैं; वहाँ ज्ञान तो उनसे पृथक् रहकर उन्हें मात्र जानता है, परन्तु उनका ग्रहण या त्याग नहीं करता।

परमार्थसे तो ज्ञानमें विकारका भी ग्रहण–त्याग नहीं है। 'विकारको छोड़ो ! विकारके निमित्तोंको छोड़ो ! कुसंगको छोड़ो !'–ऐसा उपदेश चरणानुयोगमें आता है–वह निमित्तका कथन है। उपदेशमें तो ऐसे वचन आते हैं, परन्तु वस्तुस्वभाव ही परवस्तुके ग्रहण और त्यागसे रहित है; ज्ञानमें परवस्तुओंका ग्रहण-त्याग नहीं है–ऐसा स्वभाव है।

आज अनेक अज्ञानी कहते हैं कि अब सक्रिय काम कर दिखाओ ! परन्तु भाई ! तू क्या करेगा ? क्या तू ज्ञानके पास परका कार्य कराना चाहता है ? परवस्तुमें कुछ भी ऊँचा-नीचा, आगे-पीछे करनेकी शक्ति ज्ञानमें नहीं है। ज्ञानका स्वभाव ही परमें कुछ न करनेका है। ज्ञान तो आत्मामें जानने और स्थिर होनेकी क्रिया करता है, इसके अतिरिक्त परमें कुछ भी ग्रहण-त्याग नहीं कर सकता। जिस प्रकार किसी दुकान पर दर्पण लगा हो, तो उसमें अनेक प्रकारके मोटर, गाडी, मनुष्यादिके प्रतिबिम्ब पड़ते हैं और फिर चले जाते हैं। वहाँ दर्पणने उन वस्तुओंका ग्रहण या त्याग नहीं किया है; उसी प्रकार ज्ञानमें सब कुछ ज्ञात होता है, परन्तु ज्ञान किसीका ग्रहण या त्याग नहीं करता। ऐसे ग्रहण-त्याग रहित, साक्षात् समयसारभूत शुद्ध ज्ञानका अनुभवन करना चाहिये। ऐसा यहाँ उपदेश है।

यहाँ गाथा ३९० से ४०४ तथा उनकी टीका परके प्रवचन पूर्ण हुये।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ-३६४२५०

गाथा ३९० से ४०४ तकका

— भावार्थ —

यहाँ ज्ञानको समस्त परद्रव्योंसे भिन्न और अपनी पर्यायोंसे अभिन्न बताया है, इसलिये अतिव्याप्ति और अव्याप्ति नामक लक्षण-दोष दूर हो गये। आत्माका लक्षण उपयोग है, और उपयोगमें ज्ञान प्रधान है; वह (ज्ञान) अन्य अचेतन द्रव्योंमें नहीं है, इसलिये वह अतिव्याप्तिवाला नहीं है, और अपनी सर्व अवस्थाओंमें है; इसलिये अव्याप्तिवाला नहीं है। इसप्रकार ज्ञानलक्षण कहनेसे अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष नहीं आते।

यहाँ ज्ञानको ही प्रधान करके आत्माका अधिकार है, क्योंकि ज्ञानलक्षणसे ही आत्मा सर्व परद्रव्योंसे भिन्न अनुभवगोचर होता है। यद्यपि आत्मामें अनन्त धर्म हैं, तथापि उनमेंसे कितने ही तो छद्मस्थके अनुभवगोचर ही नहीं हैं। उन धर्मोंके कहनेसे छद्मस्थ ज्ञानी आत्माको कैसे पहिचान सकता है? और कितने ही धर्म अनुभवगोचर हैं, परन्तु उनमेंसे कितने ही तो—अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि तो—अन्य द्रव्योंके साथ सामान्य अर्थात् समान ही हैं, इसलिये उनके कहनेसे पृथक् आत्मा नहीं जाना जा सकता, और कितने ही (धर्म) परद्रव्यके निमित्तसे हुये हैं उन्हें कहनेसे परमार्थभूत आत्माका शुद्ध स्वरूप कैसे जाना जा सकता है? इसलिये ज्ञानके कहनेसे ही छद्मस्थ ज्ञानी आत्माको पहिचान सकता है।

यहाँ ज्ञानको आत्माका लक्षण कहा है इतना ही नहीं, किन्तु ज्ञानको ही आत्मा कहा है; क्योंकि अभेदविवक्षामें गुणगुणीका अभेद होनेसे, ज्ञान है सो ही आत्मा है। अभेदविवक्षामें चाहे ज्ञान कहो या

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

आत्मा—कोई विरोध नहीं है; इसलिये यहाँ ज्ञान कहनेसे आत्मा ही समझना चाहिए।

टीकामें अन्तमें यह कहा गया है कि—जो, अपनेमें अनादि अज्ञानसे होनेवाली शुभाशुभ उपयोगरूप परसमयकी प्रवृत्तिको दूर करके, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें प्रवृत्तिरूप स्वसमयको प्राप्त करके, ऐसे स्वसमयरूप परिणमनस्वरूप मोक्षमार्गमें अपनेको परिणमित करके, सम्पूर्णविज्ञानघनस्वभावको प्राप्त हुआ है, और जिसमें कोई त्याग-ग्रहण नहीं है, ऐसे साक्षात् समयसारस्वरूप, परमार्थभूत, निश्चल रहा हुआ, शुद्ध, पूर्ण ज्ञानको (पूर्ण आत्मद्रव्यको) देखना चाहिए। यहाँ 'देखना' तीन प्रकारसे समझना चाहिए।

(१) शुद्धनयका ज्ञान करके पूर्ण ज्ञानका श्रद्धान करना सो प्रथम प्रकारका देखना है। वह अविरत आदि अवस्थामें भी होता है।

(२) ज्ञान-श्रद्धान होनेके बाद बाह्य सर्व परिग्रहका त्याग करके उसका (–पूर्ण ज्ञानका) अभ्यास करना, उपयोगको ज्ञानमें ही स्थिर करना, जैसा शुद्धनयसे अपने स्वरूपको सिद्ध समान जाना-श्रद्धान किया था वैसा ही ध्यानमें लेकर चित्तको एकाग्र–स्थिर करना, और पुनः पुनः उसीका अभ्यास करना, सो दूसरे प्रकारका देखना है। इसप्रकारका देखना अप्रमत्तदशामें होता है। जहाँ तक उस प्रकारके अभ्याससे केवलज्ञान उत्पन्न न हो वहाँ तक ऐसा अभ्यास निरन्तर रहता है। यह, देखनेका दूसरा प्रकार हुआ। यहाँ तक तो पूर्ण ज्ञानका शुद्धनयके आश्रयसे परोक्ष देखना है।

(३) जब केवलज्ञान उत्पन्न होता है तब साक्षात् देखना है, सो यह तीसरे प्रकारका देखना है। उस स्थितिमें ज्ञान सर्व विभावोंसे रहित होता हुआ सबका ज्ञाता-द्रष्टा है, इसलिये यह तीसरे प्रकारका देखना

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ-३६४२५०

पूर्ण ज्ञानका प्रत्यक्ष देखना है॥३९० से ४०४॥

परसे भिन्न शुद्धज्ञानाके अनुभवका काव्य कहते हैं—

(शार्दूलविक्रीडित)

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत्पृथग्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम्।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः
शुद्धज्ञानघनो यथाऽस्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति॥२३५॥

श्लोकार्थ :—अन्य द्रव्योंसे भिन्न, अपनेमें ही नियत, पृथक् वस्तुत्वको धारण करता हुआ (—वस्तुका स्वरूप सामान्यविशेषात्मक होनेसे स्वयं भी सामान्यविशेषात्मकताको धारण करता हुआ), ग्रहणत्यागसे रहित, यह अमल (–रागादिक मलसे रहित) ज्ञान इसप्रकार अवस्थित (–निश्चल) अनुभवमें आता है कि जैसे आदि-मध्य-अन्तरूप विभागोंसे रहित ऐसी सहज फैली हुई प्रभाके द्वारा देदीप्यमान ऐसी उसकी शुद्धज्ञानघनस्वरूप महिमा नित्य-उदित रहे (—शुद्ध ज्ञानकी पुंजरूप महिमा सदा उदयमान रहे)।

भावार्थ :—ज्ञानका पूर्ण रूप सबको जानना है। वह जब प्रगट होता है तब सर्व विशेषणोंसे सहित प्रगट होता है; इसलिये उसकी महिमाको कोई बिगाड़ नहीं सकता, वह सदा उदित रहती है।२३५।

'ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्माका आत्मामें धारण करना सो यही ग्रहण करने योग्य सब कुछ ग्रहण किया और त्यागने योग्य सब कुछ त्याग किया है'—इस अर्थका काव्य कहते हैं :—

Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust, Songadh - 364250

(उपजाति)

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्
तथात्तमादेयमशेषतस्तत् ।
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः
पूर्णस्य सन्धारणमात्मनीह ॥२३६॥

श्लोकार्थ :—जिसने सर्व शक्तियोंको समेट लिया है (–अपनेमें लीन कर लिया है) ऐसे पूर्ण आत्माका आत्मामें धारण करना वही छोड़ने योग्य सब कुछ छोड़ा है और ग्रहण करने योग्य सब ग्रहण किया है।

भावार्थ :—पूर्णज्ञानस्वरूप, सर्व शक्तियोंका समूहरूप जो आत्मा है उसे आत्मामें धारण कर रखना सो यही, जो कुछ त्यागने योग्य था उस सबको त्याग दिया और ग्रहण करने योग्य जो कुछ था उसे ग्रहण किया है। यही कृतकृत्यता है।२३६।

અનુભૂતિ તીર્થ મહાન, સ્વર્ણપુરી સોહે
યહ કહાનગુરુ વરદાન, મંગલ મુક્તિ મિલે.